

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 11 अंक 1

जुलाई-सितम्बर 2013

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	₹ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	₹ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती**रजिस्टर्ड कार्यालय :**

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. महाभारत : रचनाओं का स्रोत प्रभाकर श्रोत्रीय	7
2. समकालीन आलोचना का चरित्र और बदलते परिप्रेक्ष्य में आलोचना की अपेक्षित भूमिका रमेशचंद्र शाह	17
3. हिन्दी आलोचना के दुर्बल पक्ष पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु'	30
4. हिंदी आलोचना के दुर्बल पक्ष सरजू प्रसाद मिश्र	44
5. हिंदी की साहित्यिक आलोचना : कुछ दुर्बल पक्ष रमेश दवे	51
6. हिंदी समीक्षा : भ्रान्त धारणाएँ नरेन्द्र कोहली	65
7. हिन्दी आलोचना : भ्रान्त धारणाओं से मुक्त होने की आहट कैलाशचन्द्र पन्त	70
8. समकालीन काव्यालोचन : शब्दों के घटाटोप में अर्थ का भटकाव शशि मुदीराज	76
9. समकालीन हिंदी आलोचना की चुनौतियाँ अरुण होता	83

10.	दूसरी परंपरा का विमर्श सुधीर कुमार	92
11.	प्रेमचंद-आलोचना के मिथक तथा उपेक्षा अवमूल्यन की दिशाएँ कमल किशोर गोयनका	102
12.	निराला का वास्तविक पाठ शंकर शरण	109
13.	हिन्दी आलोचना का वैचारिक धरातलउसोपान और संकट कामेश्वर पंकज	129

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

पुस्तकों के जंगल में

जंगल में चलना आसान नहीं होता। वहाँ झाड़-झंखार साफ कर चलना होता है; विषैले साँप-बिच्छू तथा हिंसक बाघ-भालू आदि से बचकर। फिर जंगली जीव-जन्तु बिना छेड़े हानि नहीं पहुँचाते। अकारण हिंसा उनके स्वभाव में नहीं है; और न ईर्ष्या, द्वेष और अकारण संग्रह-वृत्ति जैसी मानवीय दुर्वलताएँ।

वैसे जंगल में प्रकृति-प्रदत्त वैपुल्य के बीच गुजरना आनन्ददायक तो होता ही है। जंगलों-पहाड़ों का कोई सुनसान कोना, नदी का कोई अप्रत्यासित मोड़, नदियों-झरनों का कलकल निदान, कहीं कोई अकेला फूल नैसर्गिक आनन्द दे जाता है।

आज प्रकाशनों की स्थिति भी एक जंगल की तरह ही होती जा रही है। स्थिति यह है कि कोई भी व्यक्ति कुछ भी लिख कर छप सकता है। इससे पुस्तकों के जंगल का निर्माण होता है। अंतर यह है कि इस जंगल में घुसना या चलना न आसान होता है और न आनन्दप्रद। इस जंगल के झाड़-झंखाड़ को साफ करना भी आसान नहीं।

आज ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं जो भयंकर छपास से ग्रस्त हैं; प्रकाशनों की संख्या-वृद्धि के साथ ही उनकी छपास लगातार बढ़ती जाती है। फिर ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो छपने के लिए कुछ भी लिखने को तैयार बैठे रहते हैं; देश-द्रोह, समाज-द्रोह की बातों से उन्हें परहेज नहीं। शर्त केवल एक ही है कि उनका लिखा छप जाना चाहिए। उनका लेखन उनकी सोच, उनके चिन्तन का प्रतिफल नहीं होता; उसका निर्धारण छापनेवाले की माँग से निर्धारित होता है। स्वाभाविक है कि ऐसे लेखनों/प्रकाशनों में परस्पर विरोधी बातें भी होती हैं जो संभ्रम फैलाती हैं। स्पष्टतः आज के संभ्रमित/“कनफ्युज्ड” समाज/राष्ट्र के निर्माण में पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों द्वारा पाठकों को लगातार परोसी जा रही सामग्री के योगदान को नकारा नहीं जा सकता।

घने जंगल में घुसने पर खोने का भय बना रहता है, यदि रास्ता बतानेवाला जानकार न हो। यही बात इस नये जंगल पर भी लागू होती है। कहने को तो प्रकाशित पुस्तकों की भरमार है, लेकिन भारतीय भाषाओं में विषय विशेष पर पुस्तकें खोजने पर भी नहीं मिलतीं। पुस्तकों की झाड़-झंखाड़ में अच्छी पुस्तकों की खोज सरल नहीं। समस्या तब बढ़ जाती है जब रास्ता बतानेवाले, तथा-कथित समालोचक, खुद अज्ञानी हों, या दलों में बँटे हों, विचार-धारा प्रेरित हों। ऐसे में सृजनात्मक साहित्य - कविता, कहानी, उपन्यास आदि की सही जानकारी पाठकों तक नहीं पहुँच पाती। गलत

प्रकाशन प्रचार पा जाते हैं; अच्छे लेखक तथा उनका लेखन पाठकों की नजर तक नहीं पहुँच पाता। ऐसे में स्थिति अंधे के रेवड़ी बाँटने से उत्पन्न स्थिति से अलग नहीं होती।

भारत में सघन पठन-पाठन एवं चिन्तन-मनन की परम्परा रही है। यह परम्परा टूटी है, जिसने सतही लेखन को जन्म दिया है। फिर हमारा लेखक/विद्वान आज विचारों का आयातक बन गया है। जमीन से उसका लगाव कम होता जा रहा है। इस प्रवृत्ति पर रोक लगाए बिना मौलिक लेखन संभव नहीं, जो वस्तुतः हो भी नहीं रहा है। सृजनात्मक लेखन के अतिरिक्त ऐसे अनेक क्षेत्र हैं, जिनमें भारतीय भाषाओं में मौलिक प्रकाशनों का घोर अभाव है। इस अभाव की पूर्ति का प्रयास अविलम्ब किया जाना चाहिए, जो हो नहीं रहा है। फिर हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में छिटपुट अच्छी पुस्तकें आती रहती हैं, जिनकी जानकारी पाठकों तक नहीं पहुँच पाती, जिसका पहुँचाया जाना भी उतना ही आवश्यक है। स्पष्टतः इन सबके लिए हमारा सम्मिलित प्रयास होना चाहिए।

- ब्रज बिहारी कुमार

महाभारत : रचनाओं का स्रोत

प्रभाकर श्रोत्रीय*

वह सर्जना निश्चय ही बड़ी होती है जो रचनाओं को जन्म देती है। महाभारत को 'महाकाव्यों का महाकाव्य' शायद इसी आशय से कहा गया है कि वह ऐसी आधारभूत कृति है जिसने कई महाकाव्यों, आख्यानों आदि को जन्म दिया है। इसका प्रमाण भारतीय भाषाओं के साथ ही विश्व की ऐसी अनेकानेक कृतियाँ हैं जिनका उपजीव्य महाभारत रहा है। यदि हम केवल भारतीय साहित्य की बात करें तो देखेंगे कि संस्कृत से लगाकर आज तक लगभग सभी भारतीय भाषाओं में महाभारत से गृहीत, अनुकृत या प्रेरित अनेक रचनाओं ने जन्म लिया है। इतना ही नहीं लोक-साहित्य ने भी इसे उपजीव्य बनाया है; और ऐसी तो असंख्य रचनाएँ होंगी जिन्होंने महाभारत से सकारात्मक या नकारात्मक प्रेरणा पाई हो।

रामधारी सिंह 'दिनकर' ने लिखा है कि "रामायण और महाभारत ये दो महाकाव्य पिछले दो हजार वर्षों से समस्त भारतीय काव्यों के उपजीव्य रहे हैं, बल्कि यह कहना चाहिए कि महाभारत से प्रेरणा लेकर लिखे गए नाटकों और काव्यों की संख्या संस्कृत में भी बड़ी थी और यह संख्या भारत की अर्वाचीन भाषाओं में भी विशाल है। महाभारत भारतीय संस्कृति का आधार ग्रंथ है। जब-जब हमारी संस्कृति में परिवर्तन आते हैं। महाभारतीय चरित्रों की नवीन व्याख्याएँ की जाती हैं और उनके द्वारा संस्कृति के परिवर्तनों पर प्रकाश डाला जाता है।"

"उसके पात्र और घटनाएँ, स्थितियाँ इतनी विलक्षण और गतिशील हैं, उनमें शाश्वत तत्त्वों का समावेश है कि किसी भी युग में महाभारत युगानुरूप सृजन ही नहीं, सृजन और विचार-दृष्टि भी देता है।" अन्यत्र वे एक महत्वपूर्ण बात कहते हैं "जब हमारी संस्कृति में परिवर्तन आते हैं, महाभारतीय चरित्रों की नवीन व्याख्याएँ की जाती हैं और उनके द्वारा संस्कृति के परिवर्तनों पर प्रकाश डाला जाता है।"

*प्रभाकर श्रोत्रीय; ए-601, जनसत्ता अपार्टमेंट, वसुंधरा, सेक्टर-9, गाजियाबाद (उ.प्र.) 201012; मो. 09717266220.

संस्कृत साहित्य में भारवि कृत 'किरातार्जुनीय', माघ कृत 'शिशुपाल वध' और श्री हर्ष कृत 'नैषधीय चरित' जैसे श्रेष्ठ महाकाव्य और कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुंतलम्', भट्ट नायक रचित 'वेणी संहार', भास कृत 'उरुभंगम्' सरीखे उत्कृष्ट नाटकों का उपजीव्य महाभारत रहा है। यह उल्लेखनीय है कि सभी रचनाकारों ने अपनी कृतियों को मौलिकता दी है जो निश्चय ही स्रोत के नवीन पाठ के बिना संभव नहीं। उदाहरण के लिए, भास के 'उरुभंगम्' नाटक का नायक, भीम नहीं, दुर्योधन है, उसकी चरित्रगत उज्वलता तथा वीरता में निहित विनम्रता प्रभावित करती है और उसका वध एक त्रैजिक प्रभाव छोड़ता है। इसी तरह 'नैषधीय चरितम्' के नल-दमयंती को रचनाकार ने विशिष्टता दी है।

संस्कृत के बाद प्राकृत और अपभ्रंश में भी महाभारत को उपजीव्य बनाकर अनेक रचनाएँ लिखी गईं। विभिन्न मतों और धर्मों के रचनाकारों ने महाभारत की कथा को अपने अनुसार ढालकर उसका अलग पाठ रचा है। उदाहरणार्थ, जैनाचार्य जिनसेन (प्रथम) और जैनाचार्य ब्रह्मजिनदास द्वारा लिखित 'हरिवंश पुराण' में वस्तु और चरित्रगत अन्तर स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है।

आदिवासी, लोक और लोक गंधी रचनाओं में यह अन्तर और भी प्रखर होकर उभरा है। उदाहरण के लिए, ओड़िया में 15वीं शती में सारला दास द्वारा लिखित 'सारला महाभारत' को ले सकते हैं, जो उड़ीसा के जनजीवन को प्रतिध्वनित करने वाला काव्य है। 'सारला महाभारत' की ख्याति का मुख्य कारण महाभारत की वस्तु को सर्वथा नवीन रूप देना है। इस महाकाव्य में सामंत विरोध और शूद्रों की महत्ता की स्थापना स्पष्ट दिखाई देती है; कथा और चरित्रों में विलक्षण नवीनता है। उदाहरण के लिए, गंगा और द्रौपदी का चरित्र लें। 'सारला महाभारत' में गंगा का शान्तनु से विवाह प्रेम के कारण नहीं; गलती से हो जाता है। इससे वह हमेशा क्रुद्ध रहती है और बाद में शान्तनु को छोड़कर चली जाती है। द्रौपदी भी निरन्तर क्रुद्ध बनी रहती है क्योंकि डोली से उतारकर वृद्धा सास ने उसे कुम्हारशाला की राख पर सुलाया, पाँच पतियों को दे दिया; फिर उसे दाव पर लगाया गया। भरी सभा में उसने पांडवों की भर्त्सना की। दुःशासन के रक्त से केश गूँथने के बाद भीम ने उससे क्रोध त्यागकर पांडवों को प्राणदान देने की प्रार्थना की तो भी उसका क्रोध शान्त नहीं हुआ। उसने कहा "कुछ भी हो वह कृष्ण और युधिष्ठिर को छोड़कर शेष पांडवों का वध करेगी ही।" सिंहासन पर राजरानी बनकर बैठने पर भी उसमें स्त्री सुलभ ईर्ष्या कम न हुई। उसने हिडिंबा के पुत्र को शाप दिया तो बदले में हिडिंबा ने भी शाप दे दिया। किसी राक्षसी या शूद्रा द्वारा किसी सवर्ण स्त्री को शाप का यह पहला उदाहरण है। द्रौपदी के चरित्र में कवि ने साधारण स्त्री के गुण-दोषों का समावेश किया है। वह स्वीकार करती है कि "पाँच-पाँच वीर पतियों के होने पर भी मेरे मन में कर्ण की कामना रहती

है।" इसी तरह महाभारत से भिन्न मौलिक अवधारणाओं से यह काव्य भरा हुआ है जिस पर लोक-प्रवृत्ति की गहरी छाप है।

इसी सन्दर्भ में गुजराती में लिखा 'भीलों का भारथ' भी उल्लेखनीय है, जिसमें भील आदिवासियों की भावना, प्रतिभा और कल्पनाशीलता प्रकट होती है। इस काव्य के केंद्र में द्रौपदी है। उसकी रचना मातृसत्तात्मक परिवार के अनुरूप है। इस रोचक कथा में युधिष्ठिर को द्रौपदी के पैर पड़ते हुए देखकर भीम अत्यंत क्रुद्ध हो जाता है। तब द्रौपदी भीम को अपना दिव्य दैवीय रूप दिखाती है। वह सिंह पर सवार है, उसके हजार हाथ हैं। भीम यह देखकर उसके पैरों में पड़ जाता है। वह उसे उपदेश देती है। एक रोचक प्रसंग यह है कि भीम का अभिमान चूर-चूर करने के लिए उसे बैल बना दिया जाता है। द्रौपदी और वासुकि कथा भी विचित्र है। द्रौपदी के स्वर्ण केश से वासुकी को धरती के भीतर धक्का लगता है। वह उस स्वर्ण केशी की खोज में निकल पड़ता है। उसे पाकर अर्जुन को अपनी मूँछ के बाल से बाँधकर उसके सामने वह उससे मैथुन करता है। सुबह जाते समय वह मूँछ के बाल से बंधे अर्जुन का बंधन तलवार से काटता है।

हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त का 'जय भारत' और 'जयद्रथ वध', दिनकर का 'रश्मिस्थी' और 'कुरुक्षेत्र', नरेश मेहता का 'महाप्रस्थान', धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' काव्य नाटक, माखनलाल चतुर्वेदी का नाटक 'कृष्णार्जुन युद्ध, जयशंकर प्रसाद का 'जनमेजय का नाग यज्ञ', रामकुमार वर्मा का 'एकलव्य', शंकर शेष का 'एक और द्रोणाचार्य', और नरेन्द्र कोहली का 'महासमर', सीतेश आलोक का 'महागाथा', चित्रा चतुर्वेदी कार्तिका का 'महाभारती' और 'अम्बा नहीं मैं भीष्मा' उपन्यास जैसी अनेकानेक कृतियाँ रची गईं।

उर्दू में महाभारत पर आधारित कोई 36 ग्रंथ हैं। इनमें सी.पी. खटाऊ का 'महाभारत' नाटक, बाबूराम वर्मा का 'द्रौपदी लीला' दीवान साहिब चंद का 'भीमसेन', ख्वाजा हसन निजामी का 'कृष्णबीती स्वम्' मुंशी रियाजुद्दीन का 'अर्जुन प्रतिज्ञा' और 'वीर अभिमन्यु', जसवंत सिंह वर्मा का 'आर्य संगीत महाभारत' (नाटक) आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

मराठी में 13वीं शती से ही महाभारत के अनुकरण और प्रेरणा से लिखी रचनाएँ उपलब्ध होती रही हैं। चिन्तामणि शास्त्री थट्टे का 'विराट पर्व याचीं बाखर', एस.एन. जोशी का 'पतिव्रता सावित्री', साने गुरुजी का 'आस्तिक', वि.स. खांडेकर का उपन्यास 'ययाति', शिवाजी सांवत का उपन्यास 'मृत्युंजय' और 'युगंधर', जी.एन. खांडेकर का 'कर्णायन', रणजीत देसाई का 'राधेय' आदि प्रसिद्ध हैं। संत ध्यानेश्वर की 'भारत दीपिका' में गीता का और दुर्गा भागवत के 'व्यास पर्व' में महाभारत का सुंदर विवेचन है। इसी तरह बांग्ला में बुद्धदेव बसु का 'महाभारत की कथा' और तमिल में चक्रवर्ती राजगोपालचारी की 'महाभारत कथा' महत्त्वपूर्ण विवेचनाएँ हैं।

ओड़िया में महाभारत अनेक रचनाओं का उपजीव्य रहा है। सारलादास का महाभारत तो सिरमौर है ही; आधुनिक युग में कई कृतियों के बीच प्रतिभा राय का द्रौपदी के चरित्र को लेकर लिखा 'याज्ञ सेनी' चर्चा में है। कन्नड़ में भैरप्पा का उपन्यास 'पर्व' प्रसिद्ध है।

पंजाबी में कृष्ण और भगवत् गीता गीतों में प्रस्तुत की गई है। अजायब कमल की लंबी कविता 'इकोत्तर सौ अक्खौं वाला महाभारत' उल्लेखनीय है। इसमें आधुनिक अभिमन्यु का जिक्र है : 'अभी यहाँ कौन कह रहा था/कि रण क्षेत्र में जयद्रथ के कुटिल तीर के हाथों/अभिमन्यु मारा गया/नहीं वह तो आज के हर प्राणी में जीवित है/हाँ एक बात है/महंगाई तथा बेकारी का युग होने के कारण/रोजगार ढूँढ़ने के लिए बेचारे को/महीने में एकाध बार/अफ्रीका, अमेरिका तथा यूरोप का चक्कर लगाना पड़ता है।' महाभारत की सांकेतिक पृष्ठभूमि में आज के मनुष्य द्वारा लड़े जाने वाले महाभारत यानी दो परिवारों के बीच बँटवारे को चित्रित करने वाला मित्तन सेन मीत का 'कौरव सभा' उपन्यास महाभारत की प्रेरक शक्ति प्रकट करता है। इसी प्रकार वनीता की कविता 'मैं शकुंतला नहीं' में महाभारत की कथा तो नहीं है परन्तु उससे उत्पन्न नकारात्मक प्रेरणा सक्रिय है और यह कविता नारीवादी आख्यान बन जाती है। बी.एस. वीर का 'महाभारत जारी है' में महाभारत के चरित्रों की नए सन्दर्भ में प्रस्तुति है।

दुनियाभर की भाषाओं में महाभारत का अनुवाद हुआ है। थाईलैंड, जावा, सुमात्रा, इंडोनेशिया आदि की अनेक रचनाओं और कलाकृतियों में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। जावा और थाईलैंड में तो महाभारत 'महाभारत युद्ध' के नाम से जाना जाता है। थाई में श्रीकृष्ण पर लिखी कविता, सावित्री पर लिखे नाट्यगान, 'नलचंड' आदि प्रसिद्ध हैं। जावा में अर्जुन की बड़ी मान्यता है। अर्जुन विवाह और कर्ण पर काव्य है। प्रसंगवश यह सूचना महत्त्वपूर्ण है कि 'मध्येशिया से हिन्देशिया द्वीप समूह तक' मरने से पहले कब्र पर लिखने के लिए महाभारत के श्लोक चुने जाते हैं। इसे समस्या समाधान के लिए भी पढ़ा जाता है।

महाभारत को उपजीव्य मानकर जितनी रचनाएँ लिखी गई हैं या उससे प्रेरणा और संकेत लेकर जिन रचनाओं ने अपना आकार लिया है या जो रचनाएँ उसके विपर्यय, विखंडन आदि से रची गई हैं उनका आभास मात्र ऊपर दिया गया है।

प्रश्न यह है कि एक कृति में अनंत सर्जनात्मक संभावना क्यों होती है? मोटा कारण तो शायद यह है कि उसके एक चरित्र में से अनेक चरित्र निकलते हैं जो कई बार स्वभाव में एक-दूसरे से भिन्न, यहाँ तक कि विपरीत होते हैं; या जब एक कथा से अनेक कथाएँ निकलती हैं अथवा एक दृष्टि से, एक मत से अनेक दृष्टि और अनेक मतों का उद्भव होता है और विवेचना के भी अनेक स्तर, अनेक आयाम, अनेक जटिलताएँ और अनेक भंगिमाएँ होती हैं तो अवश्य ही उस रचना में वे

संभावनाएँ निहित होंगी। क्योंकि किसी सपाट, एक पक्षीय, जड़ और जिद्दी रचना से इतनी रचनाएँ और विचार-वैभव का निकल पड़ना संभव नहीं है। आखिर वे कौन से गुण सूत्र हैं, वे कौन संभावनाएँ और तत्त्व हैं जो अन्य रचनाओं के जन्म की प्रेरणा बनते हैं यहाँ तक कि पाठक के भीतर भी रचनाशीलता के गुण और छिपे अभ्यंतर को खोलते और बहुमुखी बनाते हैं? यह एक गंभीर चिन्तन और अन्वेषण का विषय है। इसके कुछ प्रारंभिक पहलुओं पर हम विचार करें तो संभवतः महाभारत के सर्जना-उत्सों का उत्खनन हो सके।

महाभारत द्वारा अनेक रचनाओं को जन्म देने का पहला बड़ा कारण तो यह प्रतीत होता है कि यह एक उदार रचना है जो अपने स्रोत से जन्म लेने वाली किसी रचना की स्वायत्तता का हरण नहीं करती, किसी को 'अनुकरण' की लज्जा में नहीं बाँधती, उलटे सर्जक को देश-काल की भिन्नता के बावजूद सृजन की मौलिकता के लिए मुक्त करती है। संक्षेप में वह लोकतांत्रिक अवकाश (स्पेस) देती है, जो किसी भी स्तर पर 'धर्मशास्त्र' कही जाने वाली दुनिया की कोई रचना नहीं देती। (यही वह सबसे बड़ी विभाजक रेखा है जो दुनिया के दो बड़े धर्मों, इस्लाम और ख्रिस्त, से हिन्दू धर्म को अलग करती है) संभवतः इसलिए कि यह धर्म, महाभारत, रामायण जैसी सर्जनात्मक कृतियों से रचा हुआ है जो धार्मिकता के बहाने लोक-चेतना, संवेदना और जीवन की समग्रता के काव्य हैं।

दूसरा और महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि यह एकायामी काव्य नहीं है। सभी प्रकार के ज्ञान, धारणाओं, और भावों के लिए यहाँ अवकाश है और सब अपनी-अपनी दृष्टि से इसमें आश्रय पा लेते हैं। महाभारत की इस विशेषता की ओर बहुत पहले, 11वीं शती के आदि तेलुगु कवि नन्नय भट्ट ने ध्यान आकर्षित किया। वे लिखते हैं : 'धार्मिक विचारक महाभारत को धर्मशास्त्र मानते हैं, आध्यात्मिक महापुरुष इसे वेदांत कहते हैं, नैतिकतावादी इस ग्रंथ को नीतिशास्त्र और कवि पंडित इसे रस सिद्धक महाकाव्य मानते हैं, इतिहासकार तो इसे भारतीय इतिहास सिद्ध करते हैं, परम पुराण पंडित इसे अनेक पुराण ग्रंथों का संग्रह मानते हैं।'।

मराठी लेखिका दुर्गा भागवत कहती हैं : व्यास की धर्मावगुंठित कला की विशेषता यह है कि वह गुफा के शिल्प के समान देखने वाले की अपनी इच्छा तथा पात्रता के अनुसार अपना आंतरिक जगत दर्शक, पाठक या श्रोताओं के सामने खोल देती है।

यद्यपि रामायण और महाभारत दोनों ही काव्य अनेक रचनाओं के उपजीव्य रहे हैं, परन्तु रामायण एक आदर्शवादी काव्य है और वहाँ धर्म और अधर्म का बँटवारा है; परन्तु जैसा पं. विद्यानिवास मिश्र कहते हैं कि 'महाभारत में धर्म-अधर्म का बँटवारा नहीं है। वहाँ छोटे धर्म और बड़े धर्म, तात्कालिक कर्तव्य और पारम्परिक कर्तव्य के गहन अन्तर्द्वन्द्वों से बड़ी कीमत देकर उबरने की कहानी है कि 'सद्गुण किसी सुख,

दुःख, भय या लालच में नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि वे ही अविनश्वर होते हैं।' यदि ऐसा है तो महाभारत के कितने सद्गुणी पात्र सद्गुण छोड़ते दिखाई देते हैं। इस काव्य में खुद ही एक जगह कही बात दूसरी जगह कट जाती है। ये कटाव भी रचनाओं को जन्म देने के कारण हैं, क्योंकि इनमें नियम की जड़ता नहीं है।

महाभारत में से असंख्य कृष्ण, सैकड़ों-हजारों कर्ण, अर्जुन, भीम, एकलव्य, द्रोणाचार्य, द्रौपदी, गांधारी, धृतराष्ट्र, दुर्योधन, संजय, भीष्म, ययाति निकले हैं और अत्यंत विविध और कहीं-कहीं मूल से इतने अलग कि विरोधी स्वरूप में भी दिखाई देते हैं। इसका एक बड़ा कारण यह प्रतीत होता है कि महाभारत का कोई चरित्र न संपूर्ण रूप से उजला है न काला। दुर्योधन खलनायक होते हुए भी सर्वथा खल नहीं है। इसी तरह युधिष्ठिर परम सत्यवादी होते हुए भी किसी अवसर पर असत्य का आश्रय लेते हैं। व्यास मानते हैं कि कोई व्यक्ति पूर्ण नहीं है, यहाँ तक कि पूर्ण पुरुष कृष्ण भी। कृष्ण भले ईश्वर हों उनकी भी मृत्यु होती है। अपूर्ण को ही तो बार-बार रचा जा सकता है। 'पूर्ण' तो सृजन की संभावना ही नष्ट कर देता है। संभवतः इसलिए आज भी महाभारत का स्रोत सूखा नहीं है, बल्कि कई अर्थों में अधिक प्रासंगिक हो गया है। महाभारत की कथावस्तु, घटनाचक्र और प्रमुख पात्र ही नहीं गौण कथा और नगण्य पात्र भी काव्य में प्रतिष्ठित हैं। युधिष्ठिर के यज्ञ की राख में लोटने वाला नेवला कितने महान सत्य को व्यक्त करते हुए असाधारण हो गया है। उसी तरह दुर्योधन का वह अदना-सा भाई विकर्ण बड़े-बड़े दिग्गजों से बड़ा है जो द्रौपदी को भरी सभा में नग्न करते समय समस्त वीरों, नीतिज्ञों से प्रश्न करता है कि 'क्या यही धर्म है? क्या यही न्याय है? क्या स्त्री दाव पर लगाने की वस्तु है? इस कौरव के इन प्रश्नों से, मिश्र जी के शब्दों में "महाभारत कीलित" है। साधारण के भीतर असाधारण की सर्जनात्मक प्रतिष्ठा के और भी अनेक आयाम और अन्तर्कारण होते हैं।

इन तमाम बातों का यह अर्थ नहीं कि महाभारत कच्चे माल का जखीरा है। वस्तुतः यह कृष्ण द्वैपायन व्यास की मेधा और परिपक्व प्रतिभा का विस्फोट है, जो किनारों में बँधी नदी की तरह नहीं, बल्कि एक विराट समुद्र की तरह तलातोम है अपार, अदम्य, अगाध हर पल गर्जना करता। यह शक्ति और वेग का काव्य है। इसमें अग्रसर होती सभ्यता के तमाम मिश्रण, तनाव, आपाधापी, अशांति, ईर्ष्या, मद, मोह और अंधमूढ़ता के साथ ही सधापन, दृष्टिसंपन्नता, विवेक, दर्शन, उदात्तता और जीवन की जटिल समस्याएँ और अनेक उत्तर भी हैं, और है एक सर्वनाशी युद्ध; जो मनुष्य से लगाकर पशु, कीट, उद्भिज आदि की सनातन वृत्ति है; और विनाश की वह सीमा है जहाँ से पुनर्सृजन अनिवार्य होता है। वह नीति और अनैति; सच और झूठ, भौतिकता और आध्यात्मिकता; स्वार्थ और परमार्थ को विस्मित कर देने वाला ताना-बाना बार-बार उधेड़ने, बार-बार उसकी सर्जनात्मक व्याख्या करने की लालसा जगाता है।

स्वयं महाभारतकार द्वारा उसे धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, मोक्षशास्त्र, इतिहास, नीतिशास्त्र कहकर उसके विविधोन्मुख रचाव का संकेत किया गया है :

धर्मशास्त्रमिदंपुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम् ।

मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्त व्यासेन मित बुद्धिना॥ (23)

'आदि पर्व' में इसे इतिहास कहा गया 'जयो नामेतिहासोऽयं' (20) 'भारतानां यतश्चायमितिहासो महाद्भुतम्।' परन्तु यदि यह भ्रम है तो दूर हो जाना चाहिए कि महाभारत का शास्त्र या इतिहास होना उसके काव्य से अलग है। क्योंकि भारत में महाकाव्य की अवधारणा कभी इकहरी नहीं रही है, उसमें इतिहास, शास्त्र, कलाएँ, वृत्तांत, रस, पुरुषार्थ, मानव-व्यवहार, प्रकृति, समाज-यानी पूरी सृष्टि शामिल होती है यहाँ तक कि अन्तर्विरोध भी। इसी से उसका महाकाव्य-रूप बनता है। यदि महाभारत के लिए 'यन्न भारते तन्न भारते' कहा जाता है तो उसमें ऐसा कुछ भी वर्जित नहीं हो सकता जो भारत में हो या जो एक महासंस्कृति की संपूर्णता का बिम्ब हो। युद्ध संसार के सभी आदिकाव्यों की मूल विषयवस्तु रही है। महाभारत ने इसे भाई-भाई के युद्ध के माध्यम से उठाकर अपूर्ण सूझ-बूझ का परिचय दिया है। आशय यह है कि जहाँ युद्ध प्रायः अस्वाभाविक और असंभव माना जाता है, वहाँ भी युद्ध है जहाँ भी युद्ध है वहाँ असत्य, क्रूरता और हीनवृत्तियाँ अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचती हैं। सत्य के भीतर असत्य, उदात्त के भीतर अनुदात्त, पुण्य के भीतर पाप, न्याय के भीतर अन्याय, सहृदय के भीतर क्रूर का प्रवेश हो जाता है और ऐसी चरमताएँ टकराती हैं जहाँ अन्ततः मूल्यध्वंस होता है। महाभारत इसी दुर्दम्य काल के बीचोंबीच 'गीता' की रागिनी छेड़ता है जहाँ कर्म, दर्शन, विश्व-व्याख्या आदि का विचित्र सम्मिश्रण होता है। गीता भी महाभारत को विश्वकाव्यों में अद्वितीय, विलक्षण और विस्मायक बनाती है। केवल गीता की ही नहीं, गीता के महाभारत के बीचोंबीच होने की भी जितनी व्याख्या की जाए, वे अपर्याप्त प्रतीत होती हैं।

महाभारत को इतिहास कहने के साथ ही 'महा अद्भुत' कहना मुझे बहुत सटीक और व्यंजक लगता है। इस महा अद्भुत इतिहास को विस्तारित करने में अनेक प्रतिभाओं ने योगदान दिया, वह भी महाभारत द्वारा जगाई जिज्ञासा का ही परिणाम प्रतीत होता है। जाहिर है कि वह जब अनेक प्रतिभाओं को सुलभ हुआ होगा तो उन्होंने उत्साहवश उसमें कुछ जोड़कर अपनी ही जिज्ञासा को शान्त करने की कोशिश की होगी। इसका यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि महर्षि व्यास की विलक्षण प्रतिभा ने इसमें योजक अवकाश रचे हैं। प्रसंगवश यह कहना उचित होगा कि जिन्होंने इन अवसरों का लाभ उठाया है वे भी कम प्रतिभाशाली नहीं रहे हैं। क्योंकि आज हमें महाभारत जिस रूप में उपलब्ध है उसमें विस्तार छोड़कर प्रायः वे सभी गुण-धर्म हैं जो इसे महान कृति के रूप में बनाए रखते हैं।

महाभारत एक जटिल नैरेशन या वृत्तांत है, क्योंकि वक्ता या कथावाचक तीन हैं और तीनों कथाएँ जारी रहती हैं। हर रचनाकार को इससे यह सुविधा रहती है कि वह अपने नए नैरेटर उनकी जगह तैनात कर सके और उसमें अपने देशकाल की वर्तमानता बनाए रख सके। एक कथा में उलझी दूसरी कथा और तमाम किस्म के कथित अन्तर्जाल भारत की आख्यायिका का स्वभाव है। आख्यायिकाएँ वटवृक्ष की तरह होती हैं जिसकी शाखा-प्रशाखाएँ जमीन में धँसकर स्वयं जड़ बन नए पेड़ उगाती और उसके अंग-प्रत्यंग को उर्वर, उलझाऊ और कई बार रहस्यमय फंतासी बनाती है। नैरेशन का यह चस्का भी विभिन्न रचनाओं के उत्स का एक कारण है।

महर्षि व्यास क्रांतदर्शी सर्जक थे। उन्होंने इतिहास-कथा के साथ मनुष्य के विकास की एक प्रच्छन्न लेकिन जटिल अन्तर्कथा महाकाव्यात्मक रूप में बुनी है जो मूलतः अन्तर्वृत्तियों की कथा है। इस तरह यह वृत्त के साथ वृत्तियों का आख्यान है; इस दृष्टि से कालबद्ध इतिहास का मिथकीकरण है। यदि ऐसा न होता तो महाभारत के चरित्रों और आख्यायिकाओं की विभिन्न देशों, कालों, भाषाओं में इतनी विविध सर्जना नहीं होती। यह महाभारत का कितना क्रांतिकारी और प्रगतिशील विचार है कि गतिशील समाज में 'शुद्धता' एक आरोपित और काल्पनिक वस्तु है। अगर आज भी हम महाभारत से यह दृष्टि ले सकें तो जातियों और धर्मों के नाम पर लड़ते समाज के लिए अत्याधुनिक मार्गदर्शन पा सकते हैं। यह कितनी बड़ी साहसिक संरचना है कि महाभारत के सारे मुख्य चरित्र वर्णसंकर हैं। (जबकि इसी काव्य की भगवत् गीता में वर्णसंकर को लेकर क्या नहीं कहा गया है!) खैर, पांडवों और कर्ण को ही लें तो कोई धर्म की, कोई सूर्य की, कोई इंद्र की, कोई वायु की, कोई अश्विनीकुमारों की संतान हैं। इसे एक अलग स्तर पर प्रतीकात्मक कह सकते हैं, पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह एक मिश्रण है जिसके अनुसार अनेक प्रकार की वर्णसंकरता, नियोग आदि को एक बनते, बढ़ते समाज का तत्त्व माना जा सकता है। इतना ही नहीं, यह आज भी (इस ऑनर किलिंग के जमाने में भी) एक अनवरत प्रक्रिया है, जो अनेक नैतिक बंधनों को तोड़ते और खोलते हुए एक सर्जक को समकालीन स्वाधीनता देती है; और शायद आलोचनात्मक दृष्टि भी।

अगर हम महाभारत के रचना-शिल्प पर विचार करें तो वह कथाओं, दंतकथाओं, काल्पनिक स्वरूपों और विरूपीकरण से भरा है जो एक सर्जनात्मक कृति की कलात्मक माँग होती है। इसकी कथाओं और पात्रों में अनेक प्रकार के संकेत और गूढ़ार्थ हैं। उदाहरण के लिए, राजा अंधा है। और अंधे राजा के राज्य में सारे मूल्य और विधिसम्मत तत्त्व कैसी अंधता को प्राप्त होते हैं इसकी ओर महाभारत से अधिक सटीक संकेत कौन कर सकता है। इसका एक पक्ष और है कि विचारशील रानी जो राजा की आँख हो सकती थी, उसने भी आँख पर पट्टी चढ़ा ली। यानी पुर और अन्तःपुर दोनों जगह अंधेरा! अब इसके कितने नए अर्थ, कितनी व्यंजनाएँ संभव हैं, इसका कोई एक उदाहरण लें तो वह धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' हो सकता है।

महाभारत की ऐतिहासिकता पर एक अलग कोण से विचार करना चाहिए। यानी प्रतीकात्मक इतिहास-बोध से, क्योंकि वह मिथकीयता से संपन्न एक महाकाव्य भी है। इसके सभी पात्र एक ओर चरित्र हैं तो दूसरी ओर प्रतीक। मानो सृष्टि-मंच पर एक विराट नाटक खेला जा रहा है जिसमें अनेक घात-प्रतिघात हैं। खुद काव्य भी नाटक खेल रहा है, अनेक रूप बदलकर। ऐसी स्थिति में हमें इसके भीतर अनेक पाठों की संभावना देखनी होगी। काव्य के साथ कथा, नाट्य, इतिहास, संस्कृति, मानव-व्यवहार, कल्पना और फैंटैसी के ऐसे संयोजनों को स्थिति और मानव नियति की अन्तर्धारा के साथ पढ़ना होगा। यदि महाभारत में इतनी संभावनाएँ न होतीं तो वह स्रोत ग्रंथ नहीं हो सकता था, क्योंकि जब तक उसके हर पहलू में अनेक स्तर; अनेक आयाम और पर्याप्त अवकाश नहीं होता तब तक वह युग-युग से, अनेक मत-मतांतर के, मनःस्थिति और अभिरुचि के सर्जकों का उपजीव्य नहीं बनता। क्या यह विचित्र नहीं कि एक ऐसी कृति जो युद्ध का आख्यान है उसे अपना उपजीव्य एक जैन मुनि बनाता है और उसमें अपने मत के लिए अवकाश पा लेता है। क्योंकि संसार में एकमात्र महाभारत है जो युद्धकाव्य होते हुए भी अन्ततः युद्ध-विरोधी काव्य है।

महाभारत के पात्र जो भोग-भोग रहे हैं, उसके भीतर कथा से अधिक विचार और कर्म के भोग की विचित्र भागीदारी है। उदाहरण के लिए, भीष्म जैसे दृढ़ प्रतिज्ञ, आजीवन ब्रह्मचारी, महावीर की विडंबना यह है कि उसकी मृत्यु का कारण 'शिखंडी' एक क्लीव है। लेकिन आप उस अन्तःसूत्र को देखें जिसमें पिता के भोग के लिए भीष्म एक सुंदरी युवती उसे दे देता है। भोगने के लिए किसी को स्त्री अर्पित कर स्वयं भोग को त्यागना अपने-आपमें एक विसंगति है। फिर यह ब्रह्मचारी अपने सौतेले भाइयों के लिए, स्वयंवर को आतुर कन्याओं का हरण करता है। पात्र के त्याग और वीरत्व को गरिमा प्रदान करते हुए भी कवि उसके इन कृत्यों को अक्षम्य मानता है, फलस्वरूप एक बहुत ही दारुण, विडंबनापूर्ण अन्त रचना है। अपहृत कन्याओं में से ही एक 'शिखंडी' के रूप में पुनर्जन्म लेती है। अपने कर्मों के लिए भीष्म को उसी से दंडित होना होता है। यह नियति और कर्म का एक अन्तःसूत्र है। अब इसे कोई महाभारत-काल में 'पुनर्जन्म' की काल-गणना का विषय बना ले तो कोई क्या कर सकता है। सच तो यह है कि काव्य का प्रतीकीकरण और मिथकीकरण इतनी छूट की इजाजत तो देता ही है।

महाभारत में अनेक पात्र और ढेरों कथाएँ हैं जो कर्म और कर्मदंड, कर्म और नियति, कर्म और विवेक-अविवेक वगैरह से जुड़ी हैं। परन्तु एक काव्य-न्याय भी होता है : जो संसार के न्याय से अलग, रचनाकार के विवेक से संबोधित होता है; जिसे वह कथा-रूप देता है। यही बात हम वासुदेव की व्याध के हाथों हत्या में देखते हैं। इसके सूत्र पूर्वजन्म और पूर्व कल्प तक जाते हैं। त्रेता में राम ने छिपकर बाली का वध किया था, जिसके लिए तुलसीदास का बाली कहता है धर्म हेतु अवतेरहुं गुसाईं, मारेहु मोहि

व्याध के नाई' कदाचित यही बाली व्याध बनकर द्वापर में विष्णु (राम) के पुनर्भवतार वासुदेव की हत्या करता है। जाहिर है ईश्वर भी कर्म-दंड से बच नहीं सकता। यह भारतीय कर्म-सिद्धांत है, परन्तु काव्य-न्याय भी है। यदि महाभारत का रचियता व्यास जैसा निस्पृह, साहसी, तपस्वी नहीं होता तो परात्पर वासुदेव के इस 'अन्त' को टाल देता, भले ही इससे एक सार्थक कथ्य की हत्या हो जाती। इस काव्य-न्याय और काव्यान्त ने न जाने कितने सर्जकों को उत्प्रेरित किया होगा।

रचना-शिल्प को आधार मानकर महाभारत को सिर्फ तीन लोगों द्वारा बाँची कथा के तीन स्तर तक सीमित नहीं करना चाहिए। उसके अनेक स्तर हैं। जिस काव्य में भारत के सारे अनुशासन, प्रज्ञा और उसके मूल्य गुँथे हों; जिसमें कल्पना, परा कल्पना के तत्त्व छिपे हों, उसका इकहरा पाठ संभव भी नहीं। किसी भी नए पाठ से हम यह उम्मीद जरूर करते हैं कि वह उस प्रतिज्ञा का निर्वाह करेगा जो मूल रचना में कहीं-न-कहीं अपना कोई अर्थ विकीर्ण करता है। इससे स्वयं रचित नए पाठ को भी एक रचनात्मक बल मिलता है।

कविता में निहित फैंटेसी, मिथक या पुराण-वृत्ति को पहचानना शायद इसलिए जरूरी है कि रचना कोई तात्कालिक उपक्रम नहीं है; और जहाँ तक महाभारत का सवाल है, वह एक ऐसी रचना है जिसकी कालजयिता का रहस्य यह भी है कि वह युग-युग में अपने विभिन्न रूप, रंग और प्रयोजन में व्याख्यायित, विवेचित और ग्रहीत होने के लिए खुली है।

महाभारत की उक्तियों, संवादों, घटनाओं और लयात्मक अन्विति के भीतर कविता के उत्स देखे जा सकते हैं; परन्तु उसमें निहित फैंटेसी, मिथकीय-तत्त्व, युगंधरी रूपकात्मक विन्यास और जैसा ऊपर भी कहा गया है गीता की प्रस्तुति अत्यंत नाटकीय और काव्यात्मक है। कौरव-पांडवों की विशाल सेना के बीच रथ ले जाने का अर्जुन का आग्रह "सेनायोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेच्युत।" और कृष्ण का दोनों के बीच रथ ले जाकर अर्जुन के प्रश्नों का लंबा समाधान एक तरह से व्यापक संबोधन तो है ही अत्यंत रोमांचक भी है। उद्वेलित सेनाओं के बीच जैसे दो उत्ताल समुद्रों के बीच कोई दुःसाहसी रेखा खींचकर ज्ञान-चर्चा करे अथवा दो शत्रु सेनाओं के बीच 'नोमेंसलैंड' पर कर्म, ज्ञान, संन्यास जैसे निगूढ़ तत्त्वों की व्याख्या करे, यह अपने-आप में एक फंतासी है, एक विचित्र और अद्वितीय करिश्मा, जो चमत्कृत, आकर्षित और स्तब्ध करता है।

महाभारत में विलक्षण बहुकोणीय पात्र-सृष्टि, रोचक आख्यानकता, नाटकीय स्थितियाँ, वृत्तकथन, मिथकीयता, फैंटेसी, अलंकृति और कहीं-कहीं सहज कला यानी कुल मिलाकर विराट, बहुस्तरीय और चमत्कारी स्थापत्य है; धर्म, नैतिकता, तत्त्व मीमांसा, लौकिक अनुशासनों की अभिव्यक्ति और व्यंजना है; विरोध, विसंगति और विद्रूप के प्रति सहिष्णुता है; ये चीजें सृजन को वस्तु और प्रेरणा देती हैं।

समकालीन आलोचना का चरित्र और बदलते परिप्रेक्ष्य में आलोचना की अपेक्षित भूमिका

रमेशचंद्र शाह*

(एक)

समकालीन आलोचना समकालीनता की चहारदीवारी में बंद, चतुर्दिक उसी से घिरी हुई आलोचना है, ऐसा कहने में थोड़ी अत्युक्ति हो सकती है, क्योंकि अपवाद सभी जगह होते हैं और वही आशा का आधार भी जुटाते हैं, किंतु जो थोड़े से नाम हर मंच से, हर जगह उछाले जाते हैं क्या रचना, क्या आलोचना, दोनों क्षेत्रों में, उन्हीं को अगर पर्याप्त प्रातिनिधिक और अधिकृत नाम मान लें और उनके लिखे हुए को पकड़कर जाँचें तो ज्यादातर निराशा ही हाथ लगती है। एक तो यह समकालीन आलोचना अधिकांशतः ऊबाऊ और अपठनीय होती है। सचमुच की रचना से सचमुच ही टकराने का और उससे उन्मेषित-संवेदित-प्रेरित होने का कोई लक्षण उसमें नहीं दिखता। लगता है, ये आलोचक एक बासी और अंतहीन दुहराव से निरर्थक हो चुकी शब्दावली को ही फेंटते रहते हैं और उसी को किसी भी अन्य कृति पर उसी धड़ल्ले और उसी नीरंध्र आत्मविश्वास के साथ निछावर कर सकते हैं। न तो इनका दिलो-दिमाग, न इनका सहज मात्रा-ज्ञान अथवा औचित्य-विवेक ही कभी इन्हें रोकता-टोकता है, न इनके तौर-तेवरों में, यानी रचना के पास जाने के इनके मशीनी और अभ्यास-जड़ तरीके में ही वह जिज्ञासा, वह संवेदनशील खुलापन और धीरज कहीं भी दिखाई देता है, जो जीवन की पुनर्रचना करनेवाली साहित्यिक कृति के मर्म में पैठने के लिए किसी भी पाठक या आलोचक के लिए आवश्यक समझा जाता है। ऐसे में जो छाप हम पर इस तथाकथित आलोचना की पड़ती है, वह रचना के कथ्य या अर्थ की एक पहले से तयशुदा पट्टी पर किसी भी रचना को हाँकने की कुटेव की छाप पड़ती है। रचना में जो है, उसे नहीं, बल्कि जो इन आलोचक महोदय की जैसी भी जो भी समझ है

*एम-4 निराला नगर, दुष्यंत कुमार मार्ग, भदभदा रोड, भोपाल 462003

जीवन-जगत् और मनुष्य के बारे में, एक पहले से बनी-बनाई और यांत्रिक समझ, उस परोपजीवी, बिन कमाई और भाषा की फिसलपट्टी पर बड़ी चुस्ती के साथ चढ़ती-उतरती इस समझ में जो पूर्वनिर्धारित और मनमाना अर्थ कुंडली मारे पड़ा है, उसी अर्थ को हर कृति पर आरोपित कर देने की आदत पड़ी है इन्हें। कहना न होगा कि इन महानुभावों की यह समझ अमूमन सतही तो होती ही है, अक्सर पक्षाग्रही और पूर्वग्रहदूषित भी होती है।

सवाल उठेगा कि ऐसी पक्षाग्रही और अर्थ का अनर्थ करने वाली आलोचना को आलोचना का दर्जा आखिर मिलता कैसे है? अगर इससे अनर्थ ही नहीं, अन्याय अथवा अवमूल्यन-अधिमूल्यन ही उपजता है तो ऐसी हरकतों को कोई चुनौती क्या नहीं देता? लेखक-समाज या पाठक-समाज उन्हें झेल कैसे लेता है? साहित्य के साथ, अर्थात् सबसे प्रामाणिक और विद्रोह-धर्मी मूल्यवत्ता की दृष्टि से भी सबसे दूरगामी असर डालने वाले साहित्य के साथ भी एक विरोधाभास अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है: वह विरोधाभास यह है कि सर्वाधिक मानवीय, सर्वाधिक लोकमंगलकारी सांस्कृतिक उत्पाद होने के साथ ही साहित्य सर्वाधिक शिक्षित संवेदन की भी माँग करता है सचमुख समझे और पचाए जाने के लिए। चूँकि साहित्य-सृजन का माध्यम भाषा है, स्वर या रंग-रेखा जैसे स्वभावतः प्रदूषणमुक्त उपकरण नहीं, और यह भाषा सभी के रोजमर्रा के इस्तेमाल की चीज है, अतः साहित्य पर यह दबाव हर जगह, हर जमाने में रहता आया है कि वह तुरंत समझ में आ जावे, दिमाग पर जोर न डालना पड़े, न भावनाओं और विचारों के अनवरत परिष्कार की जिम्मेदारी गले पड़े। अब यों तो हर साहित्यकार अपने लोगों तक पहुँचता चाहता है वह तो मानकर चलता है कि जो उसके घट में घट रहा है, वह सभी के घट में घट रहा होगा, बल्कि तथाकथित जन-प्रतिनिधियों की तुलना में वह अपने लोगों के जीवन की लय का, उनकी वास्तविक तकलीफों और मुक्ति-कामनाओं का, सुख और दुःख की उनकी आत्यंतिक अनुभूतियों का भी सबसे गहरा और सर्वाधिक प्रामाणिक साक्षी होता है। जो भी रोग अथवा संकट समाज को व्याप रहे हैं या व्यापने वाले हैं, उनके लक्षण सबसे पहले वही पहचानता है, सबसे पहली आहट भी अच्छे-बुरे परिवर्तनों की, जगत्प्रति की, उसी को मिलती है। तो उसकी दूरदर्शी समझ, उसकी परकाय-प्रवेशी संवेदन-सामर्थ्य और प्रदूषण-प्रतिरोध की सामर्थ्य भी ज्यों की त्यों उसके अपने लोगों तक, यथासंभव दक्षता और क्षिप्रतापूर्वक संप्रेषित हो, इसकी चिंता उसे न होगी तो और किसको होगी। सच पूछें तो अपने दिक्कालव्यापी, बहुजन संबोधी, और चराचरसंवेदी कथ्य को यथावत् अचूक संप्रेषित करने की खातिर ही वह भाषा और शैली के नए-नए तौर-तरीके खोजता आजमाता है। अर्थात् उसका प्रयोगशील होना उसके सत्यांवेषी उचित वक्ता होने की प्रेरणा का ही अनिवार्य अंग है। मगर, जाहिर है, ऐसी रचना के संयक् ग्रहण और आस्वादन के लिए भी रचनाकार जितनी नहीं, तो उसके आसपास जितनी भी अनुभूतिप्रवणता और ज्ञानात्मक संवेदना तो आवश्यक होगी ही। यानी कि, श्रेष्ठ साहित्य अपने पाठक-आलोचक से भी कमोबेश अपने स्तर की ही अनुभव-क्षमता और

समझदारी की अपेक्षा करता है। अनिवार्यतः दीक्षागम्य होता है। निश्चय ही, दीक्षागम्य होना दुरूह होना नहीं है। किंतु लेखक से तथाकथित सरलता की या सरल सुबोध भाषा की माँग करने वाले ज्यादातर लोग या तो सत्य की एक सँकरी और सतही आइडियोलॉजिकल समझ से परिचालित होते हैं, या फिर लोक-रुचि और लोक-मन की भी एक निहायत ही मनमानी और औसतपरस्त धारणा से, जो अपने आप में मात्र एक लोक-रिझाऊ यानी वास्तविक लोक की संस्कारगत सामर्थ्य और संभावनाओं का सरासर सरलीकरण, और सरासर अवमूल्यन हुआ करता है। साहित्य किसी भी जनसमुदाय की प्रसुप्त संभावनाओं को जागृत करने का सबसे प्रभावशाली माध्यम है। लोकमानस में अंतर्निहित सच को उसी के द्वारा उपजाई गई भाषा में साकार करने का सर्वोच्च प्रयत्न या पुरुषार्थ है। और वैसा ही साहित्य भी मानव-स्वभाव की सबसे गहरी खुदाई करने वाला, तथा उन्हें सचमुच उजागर करने वाला साहित्य ही अंततः लोकमन में जड़ पकड़ता और प्रतिष्ठित होता है। लोक-मन और लोक-रुचि को परिष्कृत करने का सबसे कारगर साधन भी वही सिद्ध होता है।

आलोचना नाम की गतिविधि इसी साहित्य के उत्पादकों और उसके सहभोक्ताओं-ग्रहणकर्ताओं के बीच पुल बनाने के लिए प्रकट होती है। वह सृजन को उसके स्रोतों तक पहुँचाने का अध्यवसाय करके, उसके अर्थ की विवेचना-व्याख्या करते हुए उपलब्ध ज्ञान और परिस्थिति-विवेक से उसे जोड़ते हुए उसके गुणग्राहकों का विस्तार करती है, उसे व्यापक संवाद और जिज्ञासा का विषय बनाती है। ये सच्चे आलोचक साहित्य की अधिकारी विशेषज्ञता पहले खुद कमाते हैं और तपश्चात् अपनी उस कमाई में अधिकाधिक लोगों की साझेदारी संभव करते हैं। यही आलोचना का चरित्र है। परंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि समकालीन आलोचना जिसे हम कहते या मानते हैं, उसका वैसा निश्चय ही नहीं है। वह साहित्य की अपनी विशिष्ट विभूतिमत्ता और मूल्यवत्ता की पोषक सहायक धारा बनने से संतुष्ट नहीं। उल्टे, वह साहित्य को ही (समकालीन रचना को भी) अपने मताग्रहों के मुताबिक, उस मतवाद के अनुचर-सेवक की भूमिका में देखने के आग्रह से परिचालित होती है। जो रचनात्मक साहित्य का मूलाधार है, प्राण-वायु है, वह स्वतंत्रता नामक मानव-मूल्य इन स्वयं-नियुक्त पुण्यात्माओं और न्यायाधीशों के लिए सर्वाधिक संदिग्ध मूल्य है। रणनीति ही इनके लिए नीतिमत्ता है और प्रचारधर्मिता ही इनका स्वधर्म। यह समकालीन आलोचना जब कभी अपनी चहारदिवारी से बाहर निकलकर किन्हीं पूर्वज अग्रज कवियों कथाकारों की सुध लेने को प्रवृत्त होती भी है, तो उसका यह पुरुषार्थ भी आरंभ दूषित ही रहने को अभिशप्त है। पूर्वकालिक कृतियों पर उनके इस दृष्टिपात के फलस्वरूप हमें वह अत्यावश्यक चीज भी कभी हाथ नहीं लगती जिसे पुनर्मल्यांकन कहा जाता है। उसके बदले हमारे हाथ लगती है एक निरी अपव्याख्या, जो इन पूर्वसूरियों को अपने काम का बनाने के लिए मानवीय परिस्थिति, मानव-सत्य और मानव-पुरुषार्थ तीनों का अवमूल्यन करती है। यह आकस्मिक या अकारण नहीं है कि स्वतंत्रता जितना ही जो

दूसरा मूल्य या पदार्थ इन आलोचनाजीवियों के लिए संदिग्ध ठहरता है, वह स्वयं संस्कृति है। विडंबना देखिए, कि दूसरी तरफ जो बड़े राष्ट्रवादी और संस्कृतिवादी बनते हैं, उनकी अपनी आइडियोलॉजी भी उन्हें सांप्रतिक मानवीय परिस्थिति के भीतर पैठ नहीं देती, न सांस्कृतिक संकट को यथावत् देखने-समझने और उसका प्रतिकार करने की सामर्थ्य। आधुनिक विश्व की जटिलताओं से जूझते हुए उसके बीचों-बीच से अपनी रचना-शक्ति को उबार लाने वाली बौद्धिक तैयारी उनमें कहीं नहीं दिखाई देती। न कालज्ञ सांस्कृतिक आत्मविश्वास, जो विरासत में यूँ ही नहीं मिल जाता, बल्कि तपस्यापूर्वक अर्जित करना पड़ता है।

यहाँ एक और बात का ध्यान रखना और उसे भी हिसाब में लेना जरूरी जान पड़ता है। वह यह कि आलोचना बहुत व्यापक शब्द है। उसके अंतर्गत सांस्कृतिक आलोचना का विस्तीर्ण और बहुमखी क्षेत्र भी समाहित है और तथाकथित साहित्यिक आलोचना का अपेक्षाकृत सीमित क्षेत्र भी। किंतु ध्यान देने की बात है और वह अकारण नहीं है कि समस्त बुद्धिजीवियों के बीच एक साहित्यकार ही ऐसा है जिसे व्यापक अर्थ में सभ्यता और संस्कृति को लेकर इस तरह की गहरी चिंता व्यापती है। कारण इसका शायद यही हो कि ज्ञान के अन्य तमाम अनुशासनों के बीच समग्र मनुष्य की चिंता केवल साहित्य ही करता है। अर्थात् मनुष्य की दैहिक प्राणिक-भाविक स्नायविक बौद्धिक समूची सत्ता की। यह मान लेना मूर्खता है कि साहित्यकार केवल भावजीवी होता है और बुद्धिमत्ता से उसका सरोकार उस तरह नहीं है जिस तरह वैज्ञानिक या समाजशास्त्री या धर्माचार्य, या राजनीतिज्ञ यहाँ तक कि दार्शनिक का। साहित्यकार और हमारे इस तर्कबुद्धि प्रधान युग का साहित्यकार तो विशेष रूप से समकालीन 'ज्ञान' के प्रति और पारंपरिक ज्ञान प्रतीकों के प्रति भी स्वभावतः सचेत-उन्मुख होता है। अज्ञेय ही मसलन, ऐसे ज्ञानमार्गी लेखकों में गिने जा सकते हैं और उसी जमीन पर उसी हैसियत से उन्होंने 'आलोचक राष्ट्र के निर्माण' की बात कही होगी। अंततः साहित्य भी ज्ञान का ही एक प्रकार है जो अन्य ज्ञानधाराओं या ज्ञान विषयों से इस मानी में भले अलग हो कि उसके निर्माण और ग्रहण दोनों में बुद्धि-ऊर्जा के साथ ही भाव-ऊर्जा और स्नायविक ऊर्जा का भी भरपूर विनियोग होता है। किंतु क्या यही तथ्य उसे एक भरे-पूरे और अधिक मानवनिष्ठ, अधिक प्रत्यक्षसंवेद्य ज्ञान का संवाहक भी नहीं बना देता?

तो, चूँकि साहित्य की रचना-प्रक्रिया और ग्रहण-आस्वादन-मूल्यांकन-प्रक्रिया दोनों में मनुष्य की समग्र सत्ता के कई सारे पक्ष एक साथ प्रतिध्वनित और सक्रिय होते हैं, अतएव, साहित्य के आलोचक के लिए भी न केवल इस अनेकस्तरीय मानव स्वभाव की जटिलताओं से अवगत होना अनिवार्य है, बल्कि जिस संस्कृति और जिस परिस्थिति में उसका संबोध्य मनुष्य जीता और जीने का अर्थ खोजता है, उस संस्कृति और परिस्थिति के भी अधिकाधिक पहलुओं के प्रति उसका स्वाधीन जिज्ञासुभाव आवश्यक है।

अब यूँ तो कहा जाता है, और ठीक ही कहा जाता है, कि रचना का विषय मनुष्य जीवन है और आलोचना का विषय रचना-साहित्य; यानी कि, जहाँ रचनात्मक

साहित्य सीधे जीवन के स्रोतों से जुड़ा होता है, वहाँ आलोचना साहित्य पर निर्भर होती है यानी साहित्यजीवी होती है, जीवन से उसका संबंध परोक्ष और सेकंड हैंड होता है; अर्थात् जीवन की उस पुनर्रचना से आलोचक का संबंध होता है जो साहित्य है। अब यूँ ठीक-ठाक लगते हुए भी आज के युग में यह बात थोड़ी सरलीकृत लगती है, क्योंकि आज आलोचना में एक स्वतंत्र गुणवत्ता या स्वयं पर्याप्त शक्ति भी समाविष्ट हो गई है। खासकर दर्शन की वैसी पहले जैसी केंद्रीय स्थिति ना रह जाने के परिणामस्वरूप और दूसरे भी कई कारणों से। इतिहासकार ओसवाल्ड स्पेंगलर ने कहीं लिखा था कि 'कविता-कहानी की तुलना में आलोचना आज ज्यादा रचनात्मक विधा बन गई है, बल्कि रचना कहलाने का श्रेय तो वस्तुतः उसी को जाता है। निरे जीवन पर आश्रित रचना-साहित्य को नहीं।' उस बात में अत्युक्ति तो निश्चय ही है; पर वह सर्वथा असंगत या निराधार भी नहीं।

कहने का तात्पर्य यही, कि समकालीन आलोचना के चरित्र को परखने के लिए हमें उसके सीमित साहित्यिक आलोचना वाले रूप को ही नहीं, उसके व्यापक सांस्कृतिक आलोचना वाले क्षेत्र को भी अपने हिसाब में लेना होगा। तब जो परिदृश्य हमारे सामने आता है, वह विचित्र विरोधाभासी परिदृश्य होगा। इस परिदृश्य में ऐसी प्रतिभाएँ अत्यल्पसंख्यक ही सही, निरंतर कार्यरत दिखेंगी जो संस्कृति और परिस्थिति के प्रति बड़ी जिम्मेदार और मौलिक चिंतन-समर्थ क्रियाशीलता का प्रमाण दे रही हैं। भले, तथाकथित चर्चित आलोचना के प्रतिष्ठान को उन्हें अनदेखा करने में ही अपनी कुशलता दिखाई देती हो। अक्सर ऐसा लगता है कि तथाकथित साहित्य-केंद्रित आलोचना की तुलना में यह सांस्कृतिक आलोचना कहीं अधिक वयस्क और धारदार है। अब, साहित्यिक आलोचना की अक्षमता और अपठनीयता के पीछे क्या है, वह बड़ा असुविधाजनक, मगर जरूरी सवाल है जिसे टाला नहीं जा सकता और जिसका कुछ संकेत हम कर आए हैं। एक अजीब और अनिष्टकारी तथ्य यह भी है कि यह साहित्यिक आलोचना जिस तरह की रचनात्मकता को प्रश्रय और संरक्षण देती है, वह स्वयं ही सच्चे रचनात्मक उन्मेष का साक्ष्य नहीं देती प्रतीत होती। उलटे कभी-कभी तो ऐसा तक लगने लगता है, जैसे वह इस आलोचना की शर्तों पर चल रही हो उसी से प्रेरित और पृष्ठपोषित हो। उन्हें पढ़कर यह भरोसा नहीं लगता कि वे कालजयी तो दूर, कालज्ञ और दीर्घजीवी तक साबित होंगी। अभी बीस साल पहले तक के तब अपने तेजतर्रार मुहावरे और तेवर से चौंका देनेवाला कवि तक यदि आज खीझ और असंतोष उपजाता है, तो इसका मतलब क्या हुआ? यही न कि वह अपने ही वागर्थ की क्षीणता या कि अल्पता का शिकार हुआ?

ऐसा नहीं कि अपने सांस्कृतिक स्रोतों की अद्यावधि जीवंतता का प्रमाण देने वाली अथवा उस पर छाए संकटों की यथावत् पहचान कराने वाली रचना और आलोचना इस दृश्य से एकदम नदारद हो। किंतु जिसे हम 'समकालीन आलोचना' का नाम देते हैं, वह ज्यादातर इस कदर पूर्वग्रहग्रस्त, और मोर्चा-बुद्धि से परिचालित होने

की अभ्यस्त हो गई है कि सचमुच नई और मूल्यवान् रचनाओं और आलोचनाओं पर या तो उसकी दृष्टि ही नहीं ठहरती या ठहरती भी है, तो भी वह उसकी सच्ची समझ-बूझ और समुचित मूल्यांकन के लिए प्रेरित नहीं हो पाती। अधिक-से-अधिक वह उसे अपने काम का बनाने या उसे भी अपने बाड़े में खींच लाने की उतावली और रणनीतिजनित उदारता अवश्य प्रदर्शित करती दिखाई देती है। इस भ्रामक खुलेपन के कारण वे रचनाएँ हाथों-हाथ ली जाकर रातों-रात प्रसिद्ध और पुरस्कृत भी हो जाती हैं और इस परिस्थिति के फलस्वरूप वह लेखक अनिवार्य रूप से अधिमूल्यन का शिकार होकर जल्द ही अपनी संभावनाओं को चुका देता है। उसका खुद का आलोचकीय विवेक क्षीण पड़ जाता है। सांप्रतिक रचना-दृश्य में ऐसी दुर्घटनाओं की भी कमी नहीं।

समकालीन रचना अक्सर ही उसे प्रश्रय देने वाली आलोचना की पिछलग्गू बनकर अनुकारी मुद्राओं में ढलने लगती है। सृजना के जोखिम से, परिस्थिति के निष्कवच साक्षात्कार और प्रतिकार की चुनौती से पलायन कर जाने की सृजन द्रोही-चेष्टाओं को ही वह वास्तविक सृजन-कर्म मानकर कृतकृत्य हो जाती है। कहना न होगा कि सर्जक को उसके पद की गरिमा से इस तरह गिराने में समकालीन आलोचना के उक्त पूर्वग्रहदूषित और विभाजनपरक चरित्र का भी पर्याप्त योगदान है।

(दो)

इतिहास साक्षी है कि हर युग के संवेदनशील और विचारवान मनुष्यों को अपना समय ही सबसे अधिक समस्याग्रस्त और अभूतपूर्व लगता रहा है। ईसा की पहली सदी के एक बहुत बड़े कवि ल्यूकेशिरस को प्रलयकाल एकदम सन्निकट लगा था। किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि पिछली एक-डेढ़ सदी में घटित वैज्ञानिक आविष्कारों की तथा विश्व के राजनीतिक घटना-चक्र की रफ्तार मानव-जाति के ऐतिहासिक अनुभव को देखते हुए एकदम ही विलक्षण ढंग से तीव्र और सर्वथा अपूर्वानुमेय रही है। वस्तुलक्षी ज्ञान का ऐसा विस्फोट, स्वयं उस तरह के ज्ञानात्मक ऐडवेंचर की शुरुआत जिन्होंने की, उन्हें भी चमत्कृत कर देता निश्चय ही। किंतु उन्हीं के उद्यम की इस लगभग आखिरी (मान लें यदि) कड़ी के नतीजों से वे आश्वस्त होते या नहीं यह अलग बात है। दुनिया की सबसे प्रभावशाली और स्वयमेव काल-प्रभाव से ध्वस्त होकर भी विचार और कला इत्यादि के क्षेत्रों में दुनिया पर सबसे टिकाऊ छाप छोड़ जानेवाली सभ्यताओं-संस्कृतियों को जाँचें तो साफ दिखाई देगा कि उनमें से प्रत्येक के अपने अलग, विशिष्ट प्रस्थान बिंदु रहे प्रेरक बीज और उन्हीं के अनुरूप, उनका विकास रहा। इतिहास नाम की चीज के प्रति ही मसलन हम हिंदुस्तानियों की और हमसे तुलनीय यूनानियों की संस्कृति का आकर्षण या रुख एक-सा नहीं था। न ही यूनानी दर्शन को स्वायत्त करके अपने थियोलॉजिकल ऐडवेंचर की शुरुआत करनेवाली ईसाई संस्कृति ने जिस तरह 'इतिहास' की अपनी व्याख्या जमाई वही यूनान के इतिहास

विषयक दृष्टिकोण से मेल खाती थी। हमारी काल-दृष्टि (और इतिहास को देखने-परखने की दृष्टि भी, उस तरह) कितनी अलग है और ठेठ आधुनिक काल तक भी वह न केवल हमारे जनसाधारण के जीने-मरने के ढंग में, सामान्य वार्तालाप में, बल्कि हमारे बीच के प्रबुद्धतम और पाश्चात्य संस्कृति की अधुनातन 'प्रगति' से पूरी तरह परचे हुए अग्रगामी सर्जकों-विचारकों के सर्वथा आधुनिक चिंतन में भी किसी तरह जीवित और सक्रिय है, इसे देखना हो तो पिछली सदी की शुरुआत में ही प्रकट हुए गांधी के 'हिंद-स्वराज' को और श्री अरविंद के 'दि ह्यूमन साइकिल' (मानव-चक्र) और 'मानव-एकता का आदर्श' को पढ़ लेना काफी होगा। किंतु, आज के इस तुमुल कोलाहल-कलह भरे परिवेश में कार्यरत हमारी हिंदी के सबसे तेजतर्रार और मुखर लेखकों-आलोचकों को, हो सकता है, ये उदाहरण घिसे-घिसाए और पिटे-पिटाए लगे; बदलते परिदृश्य में आलोचक (सांस्कृतिक आलोचक और साहित्य-आलोचक) की अपेक्षित भूमिका का संकेत उभारने के सिलसिले में निहायत ही गैर-मौजू, प्रतिभागी और दूर की कौड़ी लगे। तब मैं उनसे इसरार करूँगा कि चलिए आपके लिए यदि अरविंद की आलोचक-प्रतिभा या 'हिंद-स्वराज' की सभ्यता-समीक्षा, काम की नहीं ठहरती, तो न सही; आप यह तो मानेंगे ना, कि पश्चिम के सारे विज्ञानात्मक विस्फोट की जड़ में पश्चिमी दर्शनशास्त्र का इतिहास रहा है और स्वयं ही आप यह भी मान ही लेंगे कि इस दर्शन नाम की चीज से हम हिंदुस्तानियों का भी कोई कम तगड़ा या गहरा सरोकार नहीं रहा और दुनिया में हमारी पहचान सिर्फ एक 'पराजित' या 'घायल' सभ्यता के रूप में ही नहीं, एक दार्शनिक के देश के रूप में भी रही है उनके लिए भी, जो माने-ठाने बैठे हैं कि "कायदे का फलसफा तो यूरोप की ही ईजाद है।" अगर आप भी यही नहीं मानते तो बदलते परिदृश्य में आलोचना की अपेक्षित भूमिका की चिंता करते हुए आपको सबसे पहले यह भी तो कहीं-न-कहीं देखना-जाँचना पड़ेगा ही कि इस बदलते परिदृश्य में भूमंडलीकरण के इस दौर में हमारी दार्शनिक बुद्धि की जो भूमिका अनिवार्य होनी चाहिए आखिर हिंदी आलोचना की महत्त्वाकांक्षा 'आलोचक राष्ट्र' बनने-बनाने की रही है और बगैर 'हिंद-स्वराज' की तर्ज पर वैचारिक स्वराज का सुनिश्चय किए वह आकांक्षा कैसे फलेगी? और बिना विश्व-स्तर पर अपनी दार्शनिक बुद्धि का आधुनिक और आधुनिकोत्तर प्रमाण दिए। वैचारिक स्वराज का दावा भी किस बूते किया जा सकेगा? तो हमें देखना पड़ेगा कि इस इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर क्या हमारा दार्शनिक हिंदुस्तानी दिमाग कुछ ऐसा उपजा रहा है जो हमारे साहित्यिक सर्जकों-आलोचकों और इसी तरह के बुद्धिजीवियों को भी प्रेरणा दे सके उनको उनकी अपनी भूमिका पहचानने-निभाने में मददगार हो सके?

हमारे जैसा हिंदी का लेखक दर्शन की ज्ञान-संवेदनात्मक महत्ता का अहसास होते हुए भी आखिर कितना साहित्येतर पढ़े (और क्यों पढ़े?), तो भी, चूँकि साहित्य ऐसी चीज है जिसकी सीमाएँ ज्ञान के हर अनुशासन की सीमाओं से अनिवार्यतः घुलती-मिलती है, अतएव स्वधर्म के तकाजे से ही साहित्यिक दिमाग की जन्मजात

कुतूहल वृत्ति के चलते ही अपने को कुछ तो ऐसा याद आ ही रहा है तुरत-फुरत जो हमारे ख्याल से विश्व-स्तर पर हमारी दार्शनिक और ज्ञानालोचनात्मक अग्रगमिता का नमूना पेश कर चुका है। और जिससे हमारे साहित्यिक आलोचक भी चाहें तो प्रस्तुत संदर्भ में न केवल लाभान्वित हो सकते हैं बल्कि अपनी अपेक्षित भूमिका को भी इस कठिन-क्रूर-जटिल कालगति के बरक्स खड़े होकर ज्यादा साफ और असरदार तरीके से पहचान सकते हैं। साहित्य का और इसीलिए साहित्यिक आलोचना का भी सीधा सरोकार मनुष्य से है। किंतु हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि यह सरोकार समूचे मनुष्य से यानी अन्न से विज्ञान तक के कोशों तक धड़कती मनुष्य की समग्र सत्ता से है; न कि केवलमात्र उसके एक आयाम से। मनुष्य सामाजिक-राजनीतिक पशु भी है, मनुष्य चिंतनशील भी है, मनुष्य अपने से बड़े जिन पर स्वेच्छा से अपनी जान तक दे सके, ऐसे मूल्यों का स्रष्टा भी है, और मनुष्य एक 'वरशिपिंग एनिमल' (देवत्व का आवाहन करने वाला जानवर) भी है। मानवीय परिस्थिति का, इतिहास का कैसा भी, कोई भी बदलाव मनुष्य की इस अनेकायामी मनुष्यता को नहीं मिटा सकता। इतिहास ही इस तथ्य की भी गवाही दर्ज करता रहा है कि जब भी उसे सिर्फ एक आयाम में घटाने की और दूसरे आयामों को जबरदस्ती झुठलाने-दबाने का चक्कर चला है, तब-तब वह अवदमित आयाम अपूर्वानुमेय ढंग से विस्फोटित होकर अपना बदला चुकाता रहा है। 'हिंद स्वराज' का एक वाक्य अक्सर याद आता है : 'जिन लोगों की हम बात करते हैं, उन्हें हम जानते तक नहीं।' क्या हमने कभी हमारे अपने लोगों की, यानी हिंदी पाठक-समाज की जो अपेक्षाएँ साहित्यकारों से रही हैं और जिन अपेक्षाओं को हजारों बरस से हमारे साहित्यकार पूरी करते भी रहे हैं बगैर अपनी 'सामाजिकता' का अतिरिक्त बोझ उठाए और बिना उसका लगातार ढिंढोरा पीटे। क्या हमने स्वयं हिंदी साहित्य के ऐतिहासिक संदर्भ में इस 'पाठकीयता' को जाँचने-परखने की कोशिश की है कि गुप्त जी के जमाने में कवि और उसके पाठकों के बीच किस तरह का रिश्ता बना था? कि निराला, प्रसाद, पंत, महादेवी ने भी अपना समाज अपना पाठकवर्ग विकसित किया था कि नहीं? कि फिर अज्ञेय ने इस समस्या (लेखक-पाठक के बीच संबंध-सेतु निर्माण और संप्रेषण की बदली हुई परिस्थिति) का कैसा क्या निरूपण और हल प्रस्तुत किया और कैसे किया? कैसे रचनाकार को स्वयं आलोचना-कर्म (आपद्धर्म की तरह ही सही) अपनाना पड़ा? उसके बाद के लेखकों ने वही पाठक-समाज नए सिरे से बनाने-बढ़ाने की दिशा में क्या किया है? क्या उन्हें उतना और वैसा भी 'फीड-बैक' अपने पाठकों और अधिकारी साहित्य-मर्मज्ञों से मिलता है? उनकी ज्यादा सीधी-प्रत्यक्ष सामाजिक-राजनीतिक पक्षधरता वाली रचना और आलोचना ने अपने अग्रजों द्वारा निर्मित पाठक-समाज का कहाँ तक विस्तार किया है? विस्तार किया भी है सचमुच या नहीं? और नहीं किया है तो इसका कारण क्या है? जिन्हें उद्दिष्ट करके, जिनके नाम पर आप लिख और लिखवा रहे हैं, वह तथाकथित 'आम आदमी' आपके साहित्य से संवेदित होता भी है कि नहीं? उसके मनोरंजन और अंतरात्मिक

खुराक-प्राप्ति के साधन क्या हैं? जिस तरह के साहित्य तक उसकी पहुँच अभी तक रही है, जिससे वह मानसिक पोषण पाता रहा है, क्या जिन सरोकारों से आपका सोच-विचार और लिखना-पढ़ना प्रेरित है, उनसे उसका वैसा जीवनदायी और स्फूर्तिदायी संबंध बन सका है? विजयदेव नारायण साही सरीखे घनघोर समाजवादी कवि-आलोचक 'साहित्य और साहित्यकार के दायित्व' की बात करते हुए कहते हैं

“साहित्यकार न तो केवल स्थानीय (पारिवारिक) स्तर पर लिखकर जी सकता है और न ही मात्र समाज की दुहाई देकर मूल्यवान् बन सकता है। इसी प्रकार वह मानवमात्र का पक्ष लेकर भी सत्य की पूर्णता को व्यंजित नहीं कर सकता, जब तक कि उसके भीतर यह बोध न हो कि वह इन सबके साथ एक अचिन्त्य अखंड ब्रह्मांड का भी सदस्य है। चेतना के जिन चार स्तरों की बात साहित्यकार के लिए अनिवार्य है वह सार्वभौमिक और नितान्त स्थानीय होते हुए एक साथ व्यक्त होती है। जो इन चेतना-स्तरों को टुकड़े-टुकड़े करके देखता है, वह केवल अर्द्धसत्य का ही साक्षी होता है। सत्य के समग्र रूप को हृदयंगम करके लिखने और समझने के लिए यह आवश्यक है कि साहित्यकार के मानस में ये चारों स्तर समय-समय पर एक साथ झंकृत होते रहें।”

मैं ही क्यों, हिंदी साहित्य का कोई भी जानकार पाठक साहित्य के प्रति संवेदनशील और साहित्य के असली सरोकारों से संवेदित-अभ्यस्त पाठक अपनी सहजबुद्धि से ही साही के उपर्युक्त मन्तव्य से सौ फीसदी सहमत होगा। सहमति-असहमति का तो सवाल ही कहाँ उठता है यह इतनी सीधी अनुभूति और समझ की बात है कि दुनिया का कोई भी लेखक अगर वह लेखक है सचमुच तो अपने काम के बारे में इससे अलग या उल्टा सोच ही नहीं सकता। न साहित्य को अपने मानसिक पर्यावरण की तरह, उसे प्रदूषित करनेवाली हर चीज से लोहा ले सकने वाली ताकत की तरह जीने-पचाने पाठक-आलोचक ही इस बात को स्वानुभूति से दूर पाएगा। तब फिर ऐसा क्यों है कि हिंदी साहित्य का मौजूदा परिवेश इस कॉमनसेंस के सर्वथा प्रतिकूल आचरण करता दिखाई देता है?...“देखो हटाकर असलियत से, वह घटाती है हमें” राष्ट्रकवि का विरुद पाए हुए कवि ने हमें किस चीज से सावधान करने को कहा था? आज वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दी साहित्य को सर्वाधिक योगदान जिनका है, चेतना के कई स्तरों को एक साथ झंकृत करनेवाली रचना और वैसी रचना की सहयोगी आलोचना को उपजाने वाली प्रतिभाएँ ही सबसे कम हमारे साहित्यिक परिवेश में गूँजती हैं। यदि यही बदलाव है तो इससे प्रेरित और इसी को बढ़ावा देनेवाली आलोचना हमारे किसी काम की नहीं है। वह साहित्य की बहुवस्तुस्पर्शनी, हमारे वेदन-तंत्र को कई सारों पर एक साथ झंकृत करनेवाली प्रतिभा का अपव्यय, अपचयन और विडंबन है। ऐसा साहित्य और ऐसी आलोचना बदलते परिदृश्य की वास्तविकताओं से कैसे पार पा सकती है? उसका नकचली आईना भर बन सकती है। वह राजनीति के आगे-आगे चलनेवाली पथप्रदर्शक मशाल की भूमिका क्या निभाएगी, वह तो उसकी यानी उसके एक परोपजीवी मुहावरे के पिछलग्गून को और तज्जनि

‘होलियर दैन दाउ’ वाले दंभी पुण्यात्मापन और बेहया बहिष्कारप्रवणता को ही उकसा सकती है : जीवन और साहित्य दोनों के अवमूल्यन और बेरोकटोक राजनीतिकरण के दुश्चक्र को ही उकसा-बड़ा सकती है। वह न अपने समाज के उपयुक्त सही राजनीति की खोज में सहायक हो सकती है, न अपने समाज द्वारा अर्जित सांस्कृतिक मूल्यों का जतन करने की चिंता से प्रेरित हो सकती है। न वह सर्वव्यापी प्रदूषणों को पचाने या उन्हें आंतरिक प्रतिरोध दे सकने में समर्थ हो सकती है। सच तो यह है कि वह ऐसे आंतरिक प्रतिरोध की जरूरत और चेतना को ही बुझाने का, उसे अप्रासंगिक बना देने का काम करती है और कर रही है। दर्शन की यानी साहित्य की सहज पार्श्वभूमि और साहित्य के संवेदन-विस्तारक धर्म और सामर्थ्य को सीधी कुमुक पहुँचाने वाले जीवन-दर्शन को साहित्यालोचन के अनिवार्य सहचर की तरह देखने और जाँचने की जरूरत पर बल देना इसीलिए उचित और सामाजिक लगता है। ताकि हम विचारों-विचारधाराओं को उनकी अपनी औकात, अपनी जायज जगह से ज्यादा महत्त्व देकर अपनी सहजबुद्धि और संस्कारवान् चेतना पर हावी होने देने की आत्म-प्रवंचना से खुद को उबार सकें और साहित्य की जो केंद्रीय हैसियत कर्मोवेश सभी युगों और समाजों में रही है, जो लोच और अबाधित शक्ति उसके जरिए मानवीय अंतःकरण के आयतन को समृद्ध करती रही है, उसे अपना काम करने के लिए अनुकूल वातावरण बनाने वाली आलोचना का पथ भी प्रशस्त कर सकें।

सृजनधर्मी साहित्य स्वयं ज्ञान का स्रोत है। दर्शन की बात यहाँ साहित्य को उससे कमतर या उसका आश्रित ठहराने के लिए नहीं की जा रही है, यह खुलासा करना आवश्यक है। साहित्य को ‘जीवन की आलोचना’ और ‘जीवन के अंतर्निहित मर्म का उद्घाटन’ यों ही नहीं कह दिया गया। किंतु जो लोग साहित्य की स्वायत्त शक्ति का सबसे ज्यादा नकारते रहे हैं, वही उसे एक आइडियोलॉजी के अधीन करने को सर्वाधिक व्यग्र दिखाई देते हैं। इसलिए साहित्य और विचार के संबंध पर मौलिक ढंग से स्वाधीन बुद्धि-ऊर्जा से सोचने-समझने की जरूरत पर इस दौर में बल देना जरूरी जान पड़ता है। और तब, उसी तर्क से दार्शनिक चिंतन को साहित्य से मिलनेवाले ज्ञान के स्वाभाविक सहचर की तरह स्वीकार करने की बात सामने आती है। पिछली सदी और पूर्वकाल के महत्तम साहित्य-सर्जकों के आचरण से भी यह बात प्रमाणित होती है। साहित्य-सर्जक मौलिक विचारक या दार्शनिक हो ही, यह कदापि आवश्यक नहीं, किंतु वह किसी एक विचार या विचारधारा का अनुचर बनकर अपनी रचनात्मक और अलोचनात्मक सामर्थ्य की स्वाधीन शक्ति को खुद अपने हाथों कुठित न कर ले और इस तरह कठिन समय में अपनी भूमिका निभाने के रास्ते में खुद ही रोड़ा बन के न रह जाए, यह सावधानी और जागरूकता जरूरी है। और यहीं पर दर्शन की सार्वभौम बुद्धि-ऊर्जा से जुड़ना मात्र किसी अधूरे-विकलांग जीवन-दर्शन (जो वस्तुतः अपनी एकायामिता में दर्शन या जीवन-दर्शन कहलाने का पात्र भी नहीं ठहरता) की अधीनता स्वीकार करने की अपेक्षा श्रेयस्कर है। मात्र यही दर्शाने के लिए कि अपने दार्शनिक

स्वभाव के अनुरूप और युग-संवेदित, युगातिक्रामी दार्शनिक चिंतन-ऊर्जा हमारे यहाँ ऐसी चुक नहीं गई है कि हमें उसके लिए दूसरों का मुँह जोहना पड़े, हमने पिछली सदी की शुरुआत में किए गए वैचारिक स्वराज को उकसाने वाले मौलिक प्रयत्नों का उल्लेख किया था। वह उन्मेष बीच की सारी गड़बड़ियों, व्यतिक्रमों और इकतरफा आदान से हुई हानियों के बावजूद अभी पूरी तरह दबा नहीं, अभी भी इस इक्कीसवीं सदी के आरंभ तक भी मौलिक अवदान करने में विश्व का अवधारणात्मक वशीकरण करने की मूलतः साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा से परिचालित पाश्चात्य जगत् द्वारा उपजाई गई विचारधाराओं को जर्बदस्त चुनौती देने में सक्षम है, इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। सोमराज गुप्त द्वारा प्रस्तुत ‘प्रस्थानत्रयी’ के शांकर भाष्य का पुनर्भाष्य जिसका नामकरण है ‘दि वर्ड स्पीक्स टु दि फाउस्टियन मैन’। मनुष्य की सर्वशक्तिमान् बनने की आकांक्षा को पूरी करने के साधन के रूप में ज्ञान की प्यास का फाउस्ट जैसा प्रतीक कहाँ मिलेगा! फाउस्ट की पिपासा उस आत्मज्ञान-निरपेक्ष वस्तुलक्षी ज्ञान की है जो उसे इसी देह से अजर-अमर बना दे, सृष्टि की समस्त विभूतियों को अपने काबू में करके उन्हें भोगने की असीम सामर्थ्य प्रदान कर दे। उसकी ज्ञान-दृष्टि नश्वरता के नकार और मानवीय सीमाओं के अहमन्य उल्लंघन से परिचालित है। शैतान मानो उसी की इस लालसा की पुकार के प्रत्युत्तर की तरह प्रकट होता है और उसकी पूर्ति का वचन देता है इस शर्त पर, कि फाउस्ट अपनी आत्मा उसके पास गिरवी रख दे। फाउस्ट इस तरह अपने ही चुने और बुने हुए जाल में फँस जाता है। किसी मौलिक ग्रंथ से भी अधिक रोचक और प्रामाणिक सोमराज गुप्त का यह भाष्य औपनिषदिक प्रज्ञा को आधुनिक चेतना के बीचोबीच स्थापित करता है और इसलिए वह उस चेतना को निर्धारित करनेवाली विश्व-दृष्टि, यानी फाउस्टियन ज्ञान-दृष्टि को गहरी चुनौती, सीधी टक्कर भी देता है। इस काम में वह स्वयं पश्चिम के श्रेष्ठतम सृजनात्मक साहित्य में अभिव्यक्त अनुभूतियों के शब्द-प्रामाण्य का अनूठा उपयोग करता है और पश्चिम की दार्शनिक परंपरा की परिणतिस्वरूप उसके सबसे नामी-गिरामी ठेठ समकालीन चिंतकों का भी। सृजनात्मक साहित्य के अंतःप्रमाण का ऐसा गहरा प्रयोग दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में, अन्यत्र शायद ही कहीं मिले। और पश्चिम के अग्रगामी दार्शनिक चिंतन की सीमाओं का ऐसा आधिकारिक उद्घाटन भी।

साहित्य के अंतःसाक्ष्य का ऐसा विनियोजन दर्शन के प्रश्नों के स्तर पर कैसे संभव होता है, यह हमारे लिए विचारणीय है। अपनी पुस्तक ‘भूलने के विरुद्ध’ (1994) में मैंने दर्शाया था कि किस तरह साहित्यिक मनीषा और वैज्ञानिक बुद्धि के बीच बुनियादी फर्क है और वह यह कि साहित्यिक सर्जक मस्तिष्क ‘सेल्फ’ यानी आत्मा की अनुभूति और अवधारणा के प्रति अनिवार्यतः प्रतिश्रुत होता है; जबकि वैज्ञानिक मस्तिष्क व्यवहार में आत्मा (या, कह लीजिए ‘आत्म’) का ‘चेतना’ तक का अस्तित्व स्वीकार नहीं कर सकता। सामान्य संस्कृति का काम ‘आत्मा’ की अवधारणा पर निर्भर न भी हो, किंतु साहित्यकार का तो अस्तित्व ही जाने-अनजाने इसी अवधारणा पर टिका हुआ है। यूरोप

का ऐसा एक भी बड़ा लेखक आधुनिक युग का नहीं, जिसने अपनी सभ्यता के प्रति गहरा असंतोष और विरक्त भाष्य व्यक्त न किया हो। इसलिए कि साहित्य का सर्जक इस बात को भीतर से जानता है कि कोई भी संस्कृति उन सब माँगों को पूरा नहीं कर सकती जो मनुष्य की आत्मा उसके सामने निरंतर खड़ी करती रहती है संस्कृति और बदलती परिस्थिति के बीच निरंतर बनते-बिगड़ते संतुलन के चलते। प्रश्न यह उठता है कि जहाँ संस्कृति स्वयं आत्मान्वेषी संस्कृति हो, वहाँ समस्या का रूप क्या होगा, क्या है? आत्मबोध की अराजकता के, सांस्कृतिक संकट के जैसे चित्र आधुनिक साहित्य की सर्वोकृष्ट कृतियों में जैसे डॉस्ताएवस्की, काफ़का, मान इत्यादि में प्रकट हुए हैं, वे हमारी आत्म-स्थिति और सांस्कृतिक परिस्थिति से कितना मेल खाते हैं? स्वयं हमारे आधुनिक साहित्य की उत्कृष्टतम कृतियाँ इस संकट का कैसा क्या चित्र खड़ा करती हैं, और हमारी आलोचना उस अंतःसाक्ष्य का कैसा क्या उपयोग करती है? करती भी है या नहीं? क्या हमारी अपनी ज्ञान-परंपरा में आत्म और संस्कृति के बीच, सर्जक-व्यक्तित्व और सभ्यता प्रसूत जीवन-रूपों के बीच उस तरह के विग्रह की स्थिति अनिवार्य है? क्या वह परंपरा पश्चिम के इकतरफा दबाव के चलते हमारे सर्जकों को सृजनात्मक स्तर पर उस तरह सुलभ भी है? देखने की बात है कि यही प्रश्न तब मार्क्सवाद और मार्क्सवादी विश्व-दृष्टि के साथ हमारे साहित्यिक रिश्तों की सार्थकता को लेकर भी उठेगा। पाश्चात्य सभ्यता और ज्ञान-दृष्टि का एक प्रमुख (और वैज्ञानिक दृष्टि का दावा करने वाला) आलोचक और भेदिया फ्रॉयड (जिसने पाश्चात्य साहित्यालोचन को बहुत गहरे में प्रभावित किया है) हमें अंततः यही न बताता है कि सभ्यता-संस्कृति की सारी सत्ता मानव-मन में ही प्रतिष्ठित है और प्रत्येक मानव-इकाई का अंतःकरण मानव-सभ्यता के समूचे विकास की प्रक्रिया को ही दुहराने को अभिशप्त है। मार्क्स मानव-नियति की इस तस्वीर को उलट देता है। किंतु, एक हिंदुस्तानी लेखक के मन में स्वभावतः यह प्रश्न उठता लाजिमी है, कि फ्राउडिय सुपरईगो की तानाशाही यदि दमित अवचेतना के विस्फोट और समायोजन से नहीं कटती तो क्या वह ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के नियति-चक्र में अपनी निमित्तमात्रता के वरण से कट जाती है? यहीं पर आनंदकुमार स्वामी द्वारा प्रस्तुत मानवीय स्थिति और पुरुषार्थ का वह चित्र कहीं अधिक तर्कशुद्ध और संगत लगता है कि “हम मानव देहधारियों की बनावट ही कुछ ऐसी है कि हम अपनी अंतर्मुखता में तो ‘आर्केटाइपल’ (आद्यरूपात्मक) हैं और अपनी बहिर्मुखिता में नाम-रूपात्मक। मनुष्य को अपने स्वभाव के किसी पक्ष को नकारना नहीं है, बल्कि उच्चतर और निम्नतर, परमार्थिक और लौकिक के बीच सामंजस्य स्थापित करना है।”

आखिर क्या वजह है कि पश्चिम की साहित्यालोचना के लिए आनंदकुमार स्वामी जैसे मनीषी प्रासंगिक और उपयोगी साबित हुए जबकि हमारी आलोचना को उनसे या अपने ही बीच के इस काल से विद्ध और उत्तीर्ण मनीषियों से कुछ भी लेना-देना नहीं? क्या मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, सार्त्र, देरिदा’ इत्यादि को हमने अपने अनुभव की जमीन पर, अपनी जरूरत और अर्जित समझ की शर्तों पर अपने काम का पाया बनाया है?

क्या हमारी वर्तमान आलोचना सैद्धांतिक-प्रायोगिक दोनों तरह की हमारी हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के श्रेष्ठतम सर्जकों-मनीषियों के योगदान को पचाकर विकसित और सक्रिय हुई है? बदलते परिप्रेक्ष्य में उसी आलोचना की भूमिका के सम्यक् निर्वाह का भरोसा हो सकता है जिसने पूर्ववर्तियों का मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन कर सकने की अपनी क्षमता प्रमाणित कर दी हो। क्या आज की हिंदी आलोचना का वर्तमान उसकी सर्वाधिक मुखर और प्रतिष्ठादात्री मशीनरी का आचरण इस ऋणशोध और जिम्मेदारी का अहसास जगाता है? क्या वह अपनी बहिर्मुखता में ठीक उसी बहिष्कारप्रवण और आत्मतुष्ट (सेल्फ-राइचस) मानसिकता से ही प्रेरित नहीं है जिसे वे ऐतिहासिक दृष्टि से हमारी सबसे बड़ी दुर्बलता और जातीय व्याधि के रूप में देखते कोसते हैं? हमारे सबसे अधिक विचारोत्तेजक, सबसे अधिक विश्व-चेतस् और सबसे अधिक सांस्कृतिक विवेक का अंतःप्रमाण देनेवाले साहित्य-सर्जकों के प्रति ही इस तथाकथित प्रतिबद्ध आलोचना ने जैसा घटिया बरताव किया है, वह क्या ‘आलोचना’ कहलाने का पात्र भी है? नितान्त पाठकीय स्तर पर भी जैसाकि हमने शुरू में ही प्रश्न उठाया क्या यह बहिष्कारप्रवण मताग्रही रचना-दृष्टि और आलोचन-दृष्टि तुलसी, कबीर, निराला, प्रसाद द्वारा संस्कारित हिंदी समाज में स्वयं को, ग्राह्य बना सकी है? हिंदी की साहित्यिक संस्कृति के सहज-स्वाभाविक विकास में आखिर उसका ठीक-ठीक कैसा-क्या योगदान है? क्या कारण है कि अपने समाज की आकांक्षाओं या वास्तविकताओं को लेकर बढ़-चढ़कर दावा करते रहने में बावजूद समाज और साहित्य दोनों की वास्तविक आलोचनात्मक समझ और मूल्यांकन संबंधी उसकी उपलब्धियाँ तक उन लोगों की तुलना में हीनतर हो रह आई है जिन्हें वे व्यक्तिवादी, कलावादी इत्यादि अभिधानों से अवमूल्यित करते रहे हैं? अपने अनर्गल अकारणद्रोही अभियानों में।

मुश्किल यह है कि अन्य प्रदेशों की तुलना में हिंदी-प्रदेश में साक्षरता का अनुपात भयावह रूप से क्षीण है। एक जागरूक, अभिज्ञ और संस्कारशील पाठकवर्ग की उपस्थिति का दबाव लेखक को महसूस ही नहीं होता। अखबारों में साहित्य के लिए जगह नहीं। पत्रकार और रचनाकार का जैसा रचनात्मक संबंध पिछली सदी के पूर्वार्द्ध के बरसों में निर्मित हुआ था वह पूरी तरह विघटित हो चुका। उनके बीच अपाट्य खाई खुद गई है। अनियतकालोन पत्रिकाओं की बाढ़ वास्तविक सर्जक या आलोकीय प्रतिभा की पहचान या प्रतिष्ठा को सुनिश्चित करने में असमर्थ है। ‘अपनी डफली अपना राग’ वाला मुहावरा सचमुच हू-ब-हू चरितार्थ हो रहा है। तिस पर लेखक-संघों की सक्रियता ने भी इस अँधेरे का क्षेत्रफल बढ़ाया ही है। जरूरत हिंदी आलोचना के अब तक के किए-धरे का सचमुच निष्पक्ष आकलन करने की और तब उसके सर्वाधिक रचनाक्षम विकास-बिंदुओं को चिह्नित करते हुए साहित्य की अनिवार्यता का समग्र दृष्टि से उसे उसके आगे ले जाने की है। तभी बदलाव की सही समझ और बदलते परिदृश्य में आलोचना से हमारी जागृत अपेक्षा सम्यक् निर्वाह की भी सही समझ पनपेगी और मौजूदा परिदृश्य में कारगर होगी।

हिन्दी आलोचना के दुर्बल पक्ष

पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु'*

हिन्दी आलोचना में मौलिकता का अभाव उसका सबसे दुर्बल पक्ष है। भारतीय आलोचनात्मक चिन्तन मूलतः संस्कृत का काव्यालोचनात्मक चिन्तन रहा है। जब इलाहाबाद विश्वविद्यालय में डॉ. धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी के प्रोफेसर-अध्यक्ष थे तब उन्होंने हिन्दी के अपने काव्यशास्त्र के निर्माण के लिए, इस दिशा में चिन्तन-अनुचिन्तन और प्रणयन करने के लिए आह्वान किया था। पर उनके इस आह्वान की ओर न ता किसी ने ध्यान दिया और न किसी ने इस दिशा में सार्थक प्रयत्न ही किया। यह स्थिति हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में बहुत धुआँ उठने के बाद भी अब तक ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। कहीं भी कोई अग्नि नहीं है, कोई प्रकाश नहीं है और न ही अपनी मौलिकता की जीवनीष्ठा है। इस तथ्य और सत्य को जो स्वीकार नहीं करते हैं, वे प्रायः एक वाग्छल का सहारा लिया करते हैं। वे कहते हैं कि संस्कृत में आलोचना नहीं है, वहाँ शास्त्र है और आलोचना शास्त्र से अलग है। पर सत्य यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र आलोचना का सिद्धांत पक्ष है और यह काव्य-सर्जना और उसके अनुभावन से किस तरह जुड़ा है, इसे सर्वत्र लक्षण उदाहरण के लिए सायुज्य से स्पष्ट किया गया है।

सच्चाई यह है कि जब हिन्दी आलोचना में सिद्धांत और सर्जनात्मक अनुप्रयोग दोनों ही दिशाओं में किसी प्रकार की मौलिकता नहीं रेखांकित की जा सकती, जब एक प्रतिस्थापित लंबी रेखा से बड़ी रेखा नहीं खींची जा सकती, तो डॉ. नामवर सिंह जैसे आलोचक के लिए बेहतर मार्ग यही रह जाता है कि अपनी आड़ी-तिरछी रेखा के सामने उस सीधी लंबी रेखा को 'रेखा' मानने से ही इनकार कर दें। कहना होगा कि ऐसी स्थिति में यही काम वह अपने वाग्छल के द्वारा किया करते हैं।

यहाँ मेरा यह प्रश्न उठाना अप्रासंगिक नहीं होगा कि आखिर आलोचना है क्या? वस्तुतः आलोचना रचना के सन्दर्भ में सिद्धांत और सर्जनात्मक अनुप्रयोग दोनों

ही रूपों में आलोचक के साहित्य-विवेक, जीवन-विवेक, उसकी निजी चिन्तनात्मक दृष्टि और सन्दृष्टि (Vision) की अभिव्यक्ति है। कहना होगा कि मैं जिसे साहित्य-विवेक कह रहा हूँ उसमें 'साहित्य-सिद्धांत' और 'सहृदयत्व' दोनों का ही मणिकांचन संयोग रहता है। पर नामवर जी का यह कथन भी क्या उनका मौलिक उद्गार है? स्पष्ट ही नहीं, क्योंकि यह भी अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध आलोचक रेने वेलेक की एक मान्यता की विरुद्ध (Distorted) छाया-भर है। वेलेक ने अपनी मान्यता यह कहकर स्पष्ट की है कि 'साहित्यिक वैदुष्य' (Literary Scholarship) और 'साहित्यालोचन' (Literary Criticism) दोनों भिन्न हैं। ये एक नहीं हैं। पर क्या भारतीय काव्यशास्त्र केवल साहित्यिक वैदुष्य भर है? क्या पश्चिम में अरस्तु और प्लेटो से लेकर अब तक प्रवर्तित हो रहे साहित्य-सिद्धांत साहित्यिक वैदुष्य भर हैं? तब तो बिंब, तनाव, विडंबना आदि के सारे सिद्धांत भी साहित्यिक वैदुष्य-भर हैं। पर नामवर जी इन्हीं सिद्धांतों को लेकर कविता की आलोचना करते हैं; कविता का नया प्रतिमान रचते हैं। यही नहीं, अपनी इस आलोचना-कृति के आरम्भ में वे अपने आलोचना-कर्म को उद्भासित-प्रकाशित करने के लिए प्रसिद्ध भारतीय काव्यशास्त्री आनन्दवर्धन के श्लोक-पर-श्लोक उद्धृत करते हैं। यानी हिन्दी आलोचना में नामवर जी की स्थापना पर क्या कहें, उनका तो आरोप तक मौलिक नहीं है। वैसे साहित्यिक वैदुष्य साहित्य-विषयक ज्ञान से संपन्न होना है। किसी भी विषय का वैदुष्य प्राप्त करना उस विषय का विद्वान् होना है। उस विषय की स्मृति और समझ दोनों ही रखना है। सामान्यतः तो यह आवश्यक नहीं कि साहित्य-विषयक वैदुष्य से संपन्न व्यक्ति साहित्य का आलोचक भी हो। पर इसकी विद्यमानता को भी नकारा नहीं जा सकता। हिन्दी में हजारी प्रसाद द्विवेदी इसके प्रमाण हैं। वह जहाँ साहित्यिक वैदुष्य से संपन्न हैं, वहीं साहित्य के आलोचक भी हैं।

पश्चिम में तो हमारे समकाल तक में सिद्धांत-पर-सिद्धांत रचे गए हैं और रचना का सर्जनात्मक निर्वचन भी बड़े प्रभावी ढंग से किया गया है। पर हिन्दी आलोचना या तो संस्कृत का उच्छिष्ट खाती है या पश्चिमी संरचना, उत्तर-संरचना, रूपवाद, शैलीविज्ञान, संकेतविज्ञान, उत्तर-आधुनिकता, उत्तर-उपनिवेशवाद, मनोविश्लेषणवाद, सौंदर्यशास्त्र, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, साहित्य का समाजशास्त्र, उत्तर-मार्क्सवाद, दलित-साहित्य, स्त्री-विमर्श आदि आयातित सिद्धांतों पर आंदोलनात्मक विमर्श करती रहती है। क्या इसे कोई हिन्दी आलोचना की मौलिकता कहेगा? सच्चाई यह है कि हिन्दी आलोचना और आलोचक के पास न तो आज कहीं आलोचकीय मस्तिष्क है और न ही कहीं आलोचकीय हृदय! उसकी विशेषता, महत्ता और सार्थकता यदि कुछ है, तो वह इसकी पराश्रयता और परोपजीविता है। पर इसके कुछ कनिष्ठिकाधिष्ठित अपवाद अवश्य हैं।

मैं अपनी इस स्थापना को थोड़ा और विस्तार दूँगा। पाठ की आलोचना में सर्जनात्मक निर्वचन की दिशा में पश्चिम में लेवी स्ट्रास ने जो मिथकों की संरचना का,

* प्रसिद्ध सर्जनात्मक और सैद्धान्तिक आलोचक तथा अद्यतन भाषाविज्ञानी; संपर्क : 'साईकृपा', 58, लाल एवेन्यू डाकघर-रेयॉन एंड सिलक मिल, अमृतसर 143005 (पंजाब)

देरिदा ने रूसो के सिद्धांतों का, शैलीविदों ने अनेक कवियों की कविताओं का और विसंरचनावादियों ने जो अनेकानेक पाठों का सर्जनात्मक निर्वचन किया है, एडगर एलेन पो की कहानी 'द पर्लॉइंड लेटर' (The Purloined Letter) का जो अर्थगर्भी निर्वचन देरिदा, लेकाँ तथा अन्यो ने किया है, वैसी आलोचनात्मक सक्रियता तो हिंदी में कहीं देखने तक को नहीं मिलती।

कहते हैं, मूल की नई व्याख्या में मूल का, यानी मौलिक स्थापना का ही श्रेय मिलता है। यह मान्यता आनन्दवर्धन की है। बहुत पहले डॉ. नामवर सिंह ने इसे अपनी एक आलोचनात्मक कृति के आरम्भ में कुछ सोच-समझकर ही उद्धृत किया था। पर इस आलोक में भी हिन्दी आलोचना में, जैसा अपेक्षित रहा है, अब तक न तो संस्कृत काव्य सिद्धांतों का ही नया निर्वचन किया जा सकता है और न ही हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृतियों का ही सर्जनात्मक निर्वचन संभव हो पाया है। यानी मूल की नई व्याख्या की मौलिकता भी हिन्दी आलोचना को प्राप्त नहीं हो सकी है।

हिन्दी आलोचना का जो कुछ भी आज तक महत्त्वपूर्ण माना जाता है उसका अविकसित रह जाना उसका दूसरा दुर्बल पक्ष है। ऊपर मैंने जिन कनिष्ठिकाधिष्ठित अपवादों की बात की है, यहाँ मेरा आशय उसी अपवाद-त्रयी से है। वस्तुतः हिन्दी आलोचना के जो तीन अत्यंत महत्त्वपूर्ण आलोचक माने जाते हैं रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी और नन्द दुलारे वाजपेयी वे मेरी दृष्टि में हिन्दी के पाठकवादी आलोचक (Readers-Oriented Critic) थे। आलोचना के क्षेत्र में पाठकवादी सिद्धांत पश्चिम में बाद का आंदोलन है। वह अपनी गुणात्मकता में पहले हिन्दी में आया। पाठकवादी आलोचक साहित्य-विवेक (Literary Competence) से संपन्न होता है। यहाँ पाठक (Reader) से अभिप्राय समर्थ पाठक, योग्यतम पाठक से लिया जाता है। यह साहित्य का वही पाठक है, जिसमें साहित्य-विवेक, जीवन-विवेक, निजी चिन्तनात्मक दृष्टि और सन्दृष्टि (Vision) होती है। इस त्रयी की आलोचना में ये विशेषताएँ मिलती हैं; इनके यहाँ मूल की नई व्याख्या है, तो कृति और कृतिकार के विषय में नई स्थापनाएँ भी हैं। और नन्द दुलारे वाजपेयी के यहाँ तो एक सीमा में ही सही, पर सर्जनात्मक निर्वचन भी है। पर हिन्दी में इस पाठकवादी आलोचना का विकास नहीं हो पाया। वह अवरुद्ध हो गई। 'ब्रांड मार्का आलोचना' ने ऐसा जोर पकड़ा कि इसकी नवाचारिता के आमोह में पाठकवादी आलोचना के विकास की संभावना ही निःशेष हो गई। फिर बाद में अन्य पश्चिमी साहित्य-सिद्धांत आए। इससे तो हिन्दी में इस पाठकवादी आलोचना का भविष्य ही नष्ट हो गया।

हिन्दी आलोचना की गंभीरता और उसकी कर्मनिष्ठा को मार्क्सवादी बनाम जनवादी आलोचना ने भी क्षति पहुँचाई है। हिन्दी में न तो इसके सिद्धांत-पक्ष का सम्यक् विवेचन संभव हो पाया है और न ही इसके मानदंड और मानक स्थापित कर महत्त्वपूर्ण कृतियों पर गहराई में जाकर सार्थक विमर्श ही किया जा सका है। अब तक

इस आलोचना के जितने प्रतिमान प्राप्त होते हैं, वे सभी बाहरी प्रतिमान ही हैं। चाहे गोल्डमान हों या लूकाच, अल्थूसर हों या ग्राम्शी, बरिकान हों या मैकरे, इन सबने क्लासिकल मार्क्सवाद में नई संभावनाओं को लेकर विचार किया है। पर हिन्दी में जड़ मार्क्सवाद से आगे नव्य मार्क्सवाद या उत्तर-मार्क्सवाद पर विचार करने वाले लोग नहीं हैं। हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना ने न तो किसी टैरी इगल्टन को जन्म दिया है और न ही फ्रेडरिक जेम्सन को। यह आलोचना आज भी हिन्दी में जड़ और गतानुगतिक आलोचना है। सिद्धांत के क्षेत्र में इसकी प्रकृति घोर अनुर्वर है।

हिन्दी आलोचना के इस दुर्बल पक्ष को कभी एक सीमा-रेखा खींचकर डॉ. नामवर सिंह ने स्वयं स्वीकार किया था कि "1956 तक जिस तरह की मार्क्सवादी आलोचना लिखी गई, चाहे वह सोवियत संघ में हो, पश्चिमी यूरोप के देशों में हो, चाहे अन्यत्र, यह बहुत ही यांत्रिक, स्कैमेटिक, और कट्टरपंथी राजनीतिक दृष्टि से परिचालित थी और आज यह माना जाता है कि इस दौर की साहित्यिक आलोचनाएँ मार्क्सवाद की बहुत उथली और कच्ची समझ का परिणाम थीं।" पर हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना आज भी उसी तरह लिखी जाती है। इसमें एंगेल्स का स्वर प्रमुख नहीं है, बल्कि लेनिन का स्वर ही प्रमुख है। इसीलिए यह आलोचना अपने व्यवहार पक्ष में विचारधारा, प्रतिबद्धता, सामाजिक यथार्थ, और मूलाधार के आधार पर समसामयिक राजनीति से जोड़ने का प्रयत्न करती, मुद्दों पर बहस करने को ही अपना प्रमुख एजेंडा बनाती है, जहाँ साहित्य छूट जाता है। स्पष्ट तौर पर मार्क्सवादी आलोचना ने राजनीति को नाभिकेंद्र में रखकर साहित्य को दरकिनार कर दिया है। इसकी शिविरबन्दी और पक्षधरता हिन्दी आलोचना के 'जेनुइननेस' के लिए खतरा है। यहाँ न तो मार्क्स की 'बहुवचनीयता' का विवेचन है और न ही हीगेल के साथ उसके वैचारिक संबंध और सरोकार पर विचार! इस आलोचना ने पाठकवादी आलोचना का विकास अवरुद्ध किया है। न तो वैश्विक धरातल पर इस आलोचना विकास-क्रम की सम्यक् मीमांसा की गई है, न मार्क्सवाद का पुनर्मूल्यांकन और न ही प्रतिष्ठित मार्क्सवादी प्रतिमानों के आधार पर हिन्दी की महत्त्वपूर्ण कृतियों का मूल्यांकन। बौद्रिया और ल्योतार ने मार्क्सवाद पर जो आरोप लगाए हैं, उनका उत्तर भी हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचक नहीं दे सके हैं। इस तरह विश्व की मार्क्सवादी आलोचना की तुलना में हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना कहीं कम विकसित और दुर्बल सिद्ध होती है। यही नहीं, हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में भी इसमें कई ऐसी दुर्बलताएँ हैं, जो हिन्दी आलोचना को विकसित नहीं होने देती हैं। भले ही मार्क्सवादी आलोचक इसे अपने स्वास्थ्य का प्रमाण मानें, पर यह उनकी मानसिक रुग्णता ही है कि अपने शिविर के सर्जकों और आलोचकों के सिवाय अन्य समर्थ सर्जकों और आलोचकों का वे नोटिस नहीं लेते। मार्क्सवादी ब्रांडमार्का आलोचना द्वारा साहित्यकारों में, दृष्टान्ततः डॉ. रामदरश मिश्र और उदय प्रकाश की लगातार उपेक्षा करना तथा इन पर तरह-तरह के आरोप लगा वस्तुतः इस आलोचना की पूर्वग्रहग्रतता का दुर्बल पक्ष ही है।

आलोचना सिद्धांत या सर्जना के विषय में आलोचक की अपनी स्थापना, उसके द्वारा की गई रचना की परख और पहचान हुआ करती है। इसलिए अलग-अलग आलोचकों से उसकी निजता और अन्यों से उसकी भिन्नता या उससे आगे की विस्तृति-संहति की अपेक्षा बुनियादी तौर पर बनी रहती है। पर मार्क्सवादी आलोचना में सुरों की इस भिन्नता की जगह सुरों की एकता-ही-एकता देखने को मिलती है, मानो दादुर-समूह एक स्वर में टर्न रहे हों या शृंगाल एक स्वर से सामूहिक विरुद-गान कर रहे हों। यह भी हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना की अक्षमता ही है। उनके यहाँ अगर कहीं भिन्नता है भी, तो वह बालू की नींव पर खड़ी हैं अथवा विरोधमात्र के लिए है।

मार्क्सवादी हिन्दी आलोचना संतुलनहीन है। वह घोर एकांगी है। वह आज भी रचना पर विचार करने के पूर्व 'द्विविभाजन' (Dichotomy) का सहारा लेती है। ऐसे में वह रचना को 'अन्तर्वस्तु' और 'रूप' (Content and Form) में बाँटती है तथा केवल 'अन्तर्वस्तु' की सतह पर तैराकी करती रहती है, उसकी गहराई में नहीं उतरती, गोताखोरी नहीं कर पाती और उसमें निहित अभिप्रायों, सार्थक कथ्य-छायाओं की उद्घाटन प्रक्रिया तक भी नहीं पहुँच पाती है। इसलिए वह रचना की सही पहचान-परख नहीं कर पाती है। अपने इस आरोप को मैं मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' कविता के बारे में नामवर जी और चंचल चौहान (दोनों मार्क्सवादी-जनवादी आलोचक) द्वारा दिए परस्पर विरोधी वक्तव्य के आधार पर प्रमाणित कर रहा हूँ। इन दोनों के बीच विचारणीय बिन्दु यह है कि 'अँधेरे में' कविता में 'अस्मिता की तलाश' है या 'अस्मिता का विलय' है? यह विवाद इस ब्रांडवादी आलोचना के द्वारा सुलगा दिया गया। नामवर जी ने अपनी पुस्तक के दूसरे संस्करण में 'अँधेरे में' कविता का अपने द्वारा पहले किए गए विवेचन के बाद 'पुनश्च' लिखकर चंचल चौहान को उत्तर दिया। पर यह साहित्य-विवेक दोनों में से किसी में नहीं उभर पाया कि वह यह समझ सकें कि ये दोनों परस्पर विरोधी कथन न होकर परस्पर सहनिर्भर कथन हैं, क्योंकि बिना निजी अस्मिता के विलय के काम्य-अस्मिता की तलाश व्यर्थ है और इसी तरह काम्य-अस्मिता की तलाश तो कथित अस्मिता के विलय की अपेक्षा रखती ही है। यहाँ अस्मिता की तलाश से आशय-अस्मिता की सही पहचान से है। मुक्तिबोध ने स्वयं जिसे 'डी-क्लास' होना कहा है, जहाँ कहीं अपनी मध्यवर्गीय चेतना को छोड़ने की बात की है, वही तो 'अस्मिता का विलय' है। पर यह होगा कहाँ? इस गंतव्य को प्राप्त करने के लिए ही तो 'अस्मिता की तलाश' या 'पहचान' की सार्थकता है। तभी सर्वहारा वर्ग की अस्मिता में मध्यवर्ग का यह विलय संभव हो पाएगा। इसे यूँ देखें कि काँच का एक ग्लास है। उसमें आधा पानी है, जो साफ-साफ अपनी पारदर्शिता में दिख रहा है। पर एक यह कहकर अड़ा है कि आधा ग्लास खाली है और दूसरा यह दृढ़तापूर्वक कह रहा है कि आधा ग्लास भरा है। इनमें कोई भी वस्तुस्थिति को नहीं समझ पा रहा है, क्योंकि यहाँ रचना को देखने की दृष्टि का, साहित्य-विवेक से उत्पन्न उस पारदर्शिता

का अभाव है, जो तत्काल इसकी पारस्परिक सह-निर्भरता का ज्ञान और अनुभावन करा देती है। यदि चंचल चौहान इसे समझ लेते, तो अपने मन्तव्य को नामवर जी के मन्तव्य की व्याप्ति और उसकी पारस्परिक निर्भरता में उपस्थापित कर देते और यदि नामवर जी यहाँ अपने साहित्य-विवेक में नहीं चूकते, तो 'पुनश्च' में इतना लंबा-चौड़ा वक्तव्य देने की, रै-करण (Reification) तक की चर्चा करने की उन्हें कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती। वे 'पुनश्च' में दोनों कथनों की परस्पर निर्भरता और एकोन्मुखता के प्रति दो वाक्य लिखकर ही वस्तुस्थिति स्पष्ट कर देते। पर मार्क्सवादी आलोचना इसमें चूक गई। दोनों के द्वारा अपनी-अपनी शक्ति दिखाने में ही आलोचक और आलोचना की अशक्ति सामने आ गई।

हिन्दी आलोचना की एक दुर्बलता उसमें विकासात्मक-गत्यात्मक आलोचना का अभाव है। इस ओर आलोचक अब तक ध्यान नहीं दे पा रहे हैं। इस प्रकार की आलोचना जहाँ साहित्य-विवेक से संभव होती है, वहीं साहित्य-विवेक को संपन्न-समृद्ध भी करती है। विकासात्मक-गत्यात्मक आलोचना तब सामने आती है जब किसी पूर्व स्थापित साहित्य-सिद्धांत को और आगे बढ़ाया जाए, उसमें कुछ नई कड़ियाँ और जोड़ी जाएँ अथवा उसके किसी उपांग या अभिलक्षण को तर्कसंगति के आधार पर खंडित कर हटा दिया जाए और किसी नए, युक्तियुक्त अभिलक्षण या स्थापना से उसे प्रतिस्थापित कर दिया जाए। व्यवहार पक्ष में विवेचन-निर्वचन की दृष्टि से एक आलोचक द्वारा की गई पूर्व स्थापना को उसी दिशा में और व्याख्यायित किया जाए अथवा सर्वथा नई दिशा में जाकर नई, मौलिक उद्भावना की स्थापना की जाए, भले ही यह स्थापना पूर्ववर्ती आलोचना की विरोधिता में ही क्यों न उपस्थित हो?

सिद्धांत पक्ष में 'अलंकार सिद्धांत' की मूल स्थापना से अलग हटकर वक्रोक्तिकार कुंतक के द्वारा 'वक्रोक्ति' को एक अलंकार-मात्र न मानकर स्वतंत्रतः 'वक्रोक्ति सिद्धांत' की स्थापना करना और उसकी 'वाच्य-वक्रता' के अन्तर्गत अलंकारों को समाविष्ट कर लेना विकासात्मक-गत्यात्मक आलोचना का दृष्टांत है। हिन्दी में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के दो आलोचनात्मक आलेखों 'साधारणीकरण' और 'कविता क्या है' में किसी अंश तक विकासात्मक-गत्यात्मक आलोचना का आरम्भ रेखांकित किया जा सकता है। पर परवर्ती हिन्दी आलोचना में इस दिशा में कोई सक्रियता प्राप्त नहीं हो पाती है।

व्यवहार-पक्ष के उदाहरण में हिन्दी के एक निबंधकार के साहित्य-विवेक को परखने की आवश्यकता है, जिससे हिन्दी आलोचना में इस प्रकार के अभाव का सहज भी पता चल जाता है। हिन्दी निबंधकार कुबेर नाथ राय की एक पुस्तक है 'किरात नदी में चन्द्रमधु'। अपनी इस पुस्तक के एक निबंध में उन्होंने 'निराला' की प्रसिद्ध कविता 'जुही की कली' के विषय में तब तक की गई सारी आलोचनात्मक परिशंसाओं और स्थापनाओं को नकार दिया है। यहाँ तक कि स्वयं इस कविता के कवि 'निराला'

के द्वारा की गई विवेचन-व्याख्या से भी अपनी असहमति जताते हुए उसकी सर्वथा नवीन और मौलिक विवेचना की है। कहना होगा कि इससे अधिक उपयुक्त और सटीक विकासात्मक-गत्यात्मक आलोचना का प्रमाण ढूँढना कठिन है। श्री राय के शब्दों में “मुझे विशेष रूप में स्मरण आती है ‘निराला’ की रचना ‘जुही की कली’। छायावाद के आमुख काल में यह कविता लिखी गई थी, परन्तु प्रत्यक्ष, सुंदर अर्थ पर एक वेदान्ती, नीरस, अर्थ कवि ने ही स्वयं आरोपित कर दिया था। संभवतः ‘सरस्वती’ के तत्कालीन आर्यसमाजी, वेदांती पहरेदारों को फुसलाने के लिए, अन्यथा उनके स्थूल ‘हवालेपन’ से यह बेचारी जड़-समेत उखड़ जाती। पर जब मैं इस शुक्लाभिसारिका-जैसी, शुक्ला प्रेमिका-जैसी चन्द्रज्योत्स्ना के साथ एकांत में बैठकर बात करता हूँ, तो ‘विजन-वन-वस्त्ररी’ से आरम्भ होकर अंतिम पंक्ति तक कविता का मधुकोष दल-प्रति-दल, पाँखुरी-देर-पाँखुरी खुलने लगता है और तब मैं अनुभव करता हूँ कि अपने असल अर्थ में यह कविता मोक्ष-बोध की नहीं, काम-बोध की कविता है। बालिका-वधू का काम-बोध। यह जुही की कली भीतर-ही-भीतर तरुण हो चली है। पर यौवन-बोध अभी वयःसंधि द्वार को लौंघ ही पाया है। वह ‘अमल-कोमल-तनु’ है। दृग बंद किए शिथिल पत्रांक में सोयी है। संभवतः अपने विकसित हुए आंतरिक व्यक्तित्व के प्रति स्वयं सचेत नहीं। चेहरे पर विमलता-अबोधता-पवित्रता के भाव अंकित हैं। और इसी समय ‘मलयानिल’ अर्थात् काम-बोध उस सोई हुई (अर्थात् अपने इस नए व्यक्तित्व के प्रति अचेत) जुही की कली को आकर झकझोर जाता है : यौवन का तीव्र, सचेत बोध दे जाता है, भीतर के स्नायुमंडल को जगाकर। ‘निराला’ भले ही कहें कि वह मलयानिल ‘उपवन, सर-सरित, गहन गिरि कानन, कुंज-लता-पुंजों को पार कर’ दूर देश से आता है, परन्तु मैं तो ऐसा प्राप्त करता हूँ कि सारी प्रक्रिया भीतर होती है, वह मलयानिल भीतर जाता है। वह ‘वन-उपवन, सर-सरित, गहन गिरि-कानन’ सब कुछ मन के अवचेतन और स्नायु-चक्रों में है और वह अन्तर का मलयानिल अनेक स्नायु-चक्रों को निर्ममतापूर्वक जगा देता है, जो वयःसंधि के बाद सक्रिय होते हैं। कविता की भाषा रूपक या ‘एलेगरी’ होती है। अतः जो व्यापार भीतर घटित होता है, उसको यहाँ पर बाह्य नाट्य और प्रतीकों के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है। इसी से मलयानिल, जो भीतर की काम-चेतना है, बहुत दूर देशों से आते मलयानिल का रूपक धारण कर प्रत्यक्ष होता है। वह ‘जुही की कली’ इस प्रकार भीतर-भीतर काम-चेतन्य का पूर्ण जागरण पाकर सृष्टि-व्यापी प्रकृति-पुरुष की कामलीला का प्रतीक बन जाती है, न कि आत्मा-परमात्मा के मोक्षमार्गी महामिलन की। यह वेदांती नहीं, वैष्णवी कविता है।”...“इस कविता को वेदांती मानना इसके काव्यत्व को हीन करना है। यह शुद्ध और स्वस्थ कामबोध की कविता है। यह स्वास्थ्य-दीप्त काम-बोध है। वसंत में इस बोध को उद्दीपन प्राप्त होता है और भीतर के बोधचक्र, भीतर की रक्तशिरा और स्नायुप्रवाह जग जाते हैं।...‘जुही की कली’ रस से भावित काम-बोध

की कविता है।” (किरात नदी में चन्द्र-मधु, पृष्ठ-19,20,21) इस तरह विगत शताब्दी के नवें दशक के आरम्भ में हिन्दी के श्रेष्ठ चिन्तक और ललित निबंधकार कुबेरनाथ राय ने जो ‘जुही की कली’ की उक्त अन्तर्मुख, वैष्णवी व्याख्या प्रस्तुत की है, वह विकासात्मक-गयात्मक आलोचना का दृष्टांत है पर हिन्दी आलोचना में इस प्रकार की आलोचना का अभाव उसकी अशक्ति को ही दर्शाता है।

हिन्दी आलोचना में अब तक हिन्दी साहित्य की क्लासिक कृतियों और महत्त्वपूर्ण रचनाओं, यथा गोदान, कफन, पूस की रात, कामायनी, ‘राम की शक्तिपूजा’, ‘अँधेरे में’, ‘असाध्य वीणा’ आदि के सन्दर्भ में विकासात्मक-गयात्मक आलोचना का अभाव खटकता है। ये सभी रचनाएँ बहुध्वनिक (Polyphonic) और अर्थगर्भी रचनाएँ हैं। इस पर गतानुगतिकता से अलग हटकर आलोचना की इस दिशा में ही विमर्श और विवेचन संभव है। अब तक इस दिशा में जो कुछ प्रयास हुए भी हैं, वे नगण्य हैं।

हिन्दी आलोचना का एक और दुर्बल पक्ष आलोचनात्मक सिद्धांतों के विवेचन के सन्दर्भ में उनकी अनुप्रयोगी और व्यवहार पक्ष की उपेक्षा है। किसी भी सिद्धांत की चरितार्थता और सार्थकता उसके व्यवहार पक्ष से ही सिद्ध हो पाती है। इसी से सिद्धांतों के विवेचक के साहित्य-विवेक का भी पता चलता है। डॉ. नगेंद्र ने पश्चिमी प्रगामी आलोचना-सिद्धांतों में क्या काव्य-बिंब, क्या सौंदर्यशास्त्र, क्या मिथक, क्या शैली-विज्ञान, क्या साहित्य का समाजशास्त्र और क्या तुलनात्मक साहित्य, सभी का सिद्धांत-विवेचन किया, पर इन सिद्धांतों के आधार पर वह किसी भी सर्जनात्मक कृति का अनुप्रयोगी विवेचन नहीं कर सके। उनके द्वारा ‘उर्वशी’ का किया गया विवेचन भी किसी एक सिद्धांत पर आधारित नहीं है। काव्यबिम्ब के सन्दर्भ में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ‘संश्लिष्ट बिंब’ का सिद्धांत दिया, यद्यपि इस ‘संश्लिष्ट’ शब्द का पूर्व प्रयोग शुक्ल जी कर चुके थे। पर चतुर्वेदी जी ने भी संश्लिष्ट काव्य बिम्ब के सिद्धान्त के आधार पर किसी कृति का विशेषण-विवेचन नहीं किया। डॉ. कुमार विमल और डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने सौंदर्यशास्त्र के सिद्धांत पक्ष का सांगोपाग, ‘मोनमेंटल’ विवेचन तो किया, पर इस सिद्धांत के आधार पर वे भी किसी कृति का सौंदर्यशास्त्रीय विवेचन नहीं कर सके। दूसरे शब्दों में इस सिद्धांत का अनुप्रयोगी पक्ष ऋणात्मक ही रहा। इन लोगों ने काव्य और काव्यांदोलनों में उसके उदाहरण-भर रेखांकित किए। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि सिद्धान्तों के घटक-तत्त्वों के उदाहरण रचना से ढूँढ़कर प्रस्तुत करना सिद्धांत का ऐसा अनुप्रयोगी पक्ष नहीं है, जिससे उस सैद्धांतिक आलोचना की अनुप्रयोगी चरितार्थता प्राप्त की जा सके, बल्कि यह तो सिद्धांत का ही निर्देशन और स्पष्टीकरण है। ऐसा ही शैलीविज्ञान, मिथकीय सिद्धांत, मनोविश्लेषण, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, साहित्य का समाजशास्त्र, संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद, विसंरचना (डीकंस्ट्रक्शन), तुलनात्मक साहित्य, उत्तर-उपनिवेशवाद आदि के सिद्धांतों

के सन्दर्भ में भी हुआ है। इन सिद्धांतों को भी रचना या कृति-विशेष पर साकल्य (Wholeness) में अनुप्रयुक्त करते हुए उसकी साभिप्रायता, सोद्देश्यता और सार्थकता को उद्घाटित नहीं किया जा सका है। इस तरह इस क्षेत्र में जिस प्रकार का निदर्शनात्मक और सोदाहरण स्पष्टीकरणात्मक अध्ययन हुआ है, उस तरह के घटकीय निरूपण को पहले 'फाइलोलॉजिकल स्टडी' कहा जाता था। हिन्दी में यदि ऐसा शीर्षक बनाएँ तो उदाहरण होगा प्रेमचंद के उपन्यासों में किसान, प्रेमचंद की कहानियों में मजदूर, प्रेमचंद के कथा-साहित्य में दलित।

वस्तुतः सिद्धांत के आधार पर भी की जाने वाली आलोचना की एक प्रतीक्षित सोद्देश्यता रही है और वह यह कि यह महान् कृतिकारों तथा अन्य कृतिकारों की भी महत्त्वपूर्ण कृतियों की सम्यक् पहचान-परख कर उसकी अनदेखी साभिप्रायता और सार्थकता को दिखा सके, उसका सही मूल्यांकन कर सके। यदि एक-दो अपवादों को छोड़ दें तो हिन्दी में इसका विराट शून्य ही दृष्टिगत होता है। अपवादों में वासुदेव शरण अग्रवाल का नाम लिया जाएगा, जिन्होंने भारतीय मिथकीय प्रतीकों में 'समुद्र-मंथन' और 'कल्पवृक्ष' को कूटमुक्ति की सार्थकता के द्वारा मिथकीय आलोचना को दिशा प्रदान की है और ऐसे अभाव को भाव में भरने का प्रयत्न किया है। पर हिन्दी में आलोचक अन्यान्य क्षेत्रों के ऐसे समर्थ चिन्तकों-विवेचकों से भी अभिप्रेरणा लेकर इस अभाव को भरने की दिशा में प्रयत्नशील नहीं हैं।

हिन्दी में प्रायः सैद्धांतिक और सर्जनात्मक (व्यावहारिक) दोनों प्रकार की आलोचना में सही 'तुलनात्मकता' और 'अन्तरपाठीयता' (Inter-Textuality) का अभाव मिलता है, जबकि आलोचना के विकास-क्रम और समृद्धि की दृष्टि से इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो आलोचना पूर्ववर्ती और परवर्ती, पौरत्य और पाश्चात्य तथा विभिन्न अभीष्ट भाषिक साहित्यों के बीच ऐसे सूत्रों, बीजों और प्रभाव-छायाओं के अन्तर-पाठों का विवेचन करती है, वह आलोचना महत्त्वपूर्ण, सार्थक और श्रेष्ठ मानी जाती है। पर ऐसा नहीं है कि हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना नहीं लिखी गई है। वह लिखी गई है और अधिकाधिक लिखी गई है। पर वह 'तुलनात्मक साहित्य' जैसे पश्चिमी ज्ञानानुशासन के स्वरूप और घटक-तत्त्वों से बिना परिचित हुए ही केवल 'समानता' और 'असमानता' के आधार पर अब तक लिखी जा रही है, जबकि इसमें 'तद्रूपता' (Identity) और 'व्यतिरेकता' (Contrastivity) जैसी दिशाएँ भी खुलती हैं। इसको मानक रूप तभी प्राप्त हो सकता है, जब यह इस ज्ञानानुशासन की व्यापकता और गहनता दोनों को ऐसी आलोचना में समाविष्ट करे। वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दी आलोचना में इसके दृष्टांत भी बहुत कम मिल पाते हैं। हाँ, पुराने पौरत्य-पाश्चात्य आलोचना-सिद्धांतों, विभिन्न भाषाओं के कृतिकारों, कृतियों, आंदोलनों और प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में हमें जो-कुछ रूढ़ तुलनात्मक विवेचन प्राप्त होता है उससे संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता है। अतः इस कमी और दुर्बलता को क्रमशः भावात्मकता और सबलता में भरने और रूपांतरित करने की अपेक्षा और प्रतीक्षा अभी बनी रहेगी।

समकालीन हिन्दी आलोचना में 'अनुसंधानात्मक आलोचना' का भी अभाव है। इस प्रकार की आलोचना आलोच्य विषय को पूरी व्यापकता और गहनता में ग्रहण करती है। इसका 'ट्रीटमेंट' 'माइक्रो' (गहन) और 'मैक्रो' (व्यापक) दोनों प्रकार का होता है। ऐसी आलोचना 'परिपूर्ण' और 'प्रादर्श' (Perfect) आलोचना मानी जाती है। हिन्दी में अब तक कुछ गिने-चुने लोगों ने ही इस दिशा में पहल की है। इनमें रामचंद्र शुक्ल, नलिन विलोचन शर्मा और कुमार विमल के नाम आते हैं। हजारी प्रसाद जी का जो लेखन अनुसंधानात्मक है, वह शुद्ध अनुसंधान ही है, उनकी कबीर वाली आलोचना में एक सीमा में ही अनुसंधानात्मकता प्राप्त होती है वहाँ 'मैक्रो' का 'ट्रीटमेंट' तो एक सीमा में मिल जाएगा, पर 'माइक्रो ट्रीटमेंट' का अभाव है। इसी तरह नन्द दुलारे वाजपेयी के यहाँ 'माइक्रो ट्रीटमेंट' की विद्यमानता तो है, पर 'मैक्रो ट्रीटमेंट' उनके यहाँ अनुपस्थित है। हिन्दी में लगातार आलोचना लिखी जा रही है, पर इस अभाव और दुर्बलता की ओर किसी का भी ध्यान नहीं जा पा रहा है। कोई भी आलोचक, चाहे वह जिस किसी भी प्रकार की आलोचना लिखता हो, वह अनुसंधानात्मक आलोचना की दिशा में पहल कर हिन्दी आलोचना के इस दुर्बल पक्ष को शक्ति-क्षमता प्रदान कर सकता है।

काव्यभाषा, कथाभाषा एवं नाट्यभाषापरक आलोचना के क्षेत्र में भी लगातार प्रयास चलते रहने के बावजूद यह आलोचना जिस गंतव्य तक पहुँचनी चाहिए थी वहाँ तक अब भी पहुँच नहीं पाई है। इसका कारण है इन तीनों विधाओं की भाषा के सन्दर्भ में आलोचकों की दृष्टि का साफ नहीं होना। हिन्दी में आलोचक जब साहित्य की भाषा का अध्ययन करने चलता है तब वह प्रायः 'आधारभाषा' अर्थात् जिस भाषा में साहित्य लिखा गया होता है (अवधी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, दक्खिनी), उस भाषा के व्याकरण के विभिन्न तत्त्वों और उसकी विभिन्न कोटियों (Categories) की दृष्टि से भाषा-प्रयोग का विवेचन करने लग जाता है। उसे इसकी बुनियादी जानकारी नहीं होती कि साहित्य की भाषा सर्जनात्मक भाषा होती है। साहित्यकार साहित्य की आधार-भाषा में ही भाषा-कौशलों की निजी बुनावट डाल कर उसे विशिष्ट या सर्जनात्मक बना देता है। यही सर्जनात्मकता साहित्य की भाषा की अपनी पहचान होती है। इस दृष्टि से साहित्य की भाषा अलंकारों (Figure of Speech), रीतियों, वक्रोक्तियों, ध्वनि गूँजों और अर्थ-विच्छित्तियों की भाषा होती है। वह विंब-प्रतीक, मिथक और फंतासियों की भाषा होती है। वह तनाव, विडंबना, भंगिमा और विरोधाभास की भाषा होती है। वह अन्यथाकरण की, अग्रप्रस्तुति की विचलन, विपथन और समांतरता की और डिफरेंस' (Difference) की भाषा होती है। यहीं काव्यभाषा साहित्य को साभिप्रायित करती है।

हिन्दी में काव्यभाषा-विषयक आरम्भिक आलोचनाओं को देखें। डॉ. नामवर सिंह ने पृथ्वीराज रासो; डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने 'कीर्तिलता', डॉ. सत्य नारायण त्रिपाठी

ने 'रामचरितमानस' तथा डॉ. महेंद्र ने कबीर की काव्यभाषा का विवेचन किया है। पर यह सारा विवेचन संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम, रूप-रचना, कारकों अव्ययों, क्रियारूपों आदि का ही विवेचन है। यह केवल आधार-भाषा का विवेचन है, जिससे कवियों द्वारा किए गए इनके आनुपातिक प्रयोगों का ही पता चल पाता है। काव्यभाषा के बाद के आलोचकों में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'मध्यकालीन काव्यभाषा'-विषयक अपनी आलोचना-पुस्तक लिखी है। उन्होंने भक्तिकाल के कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की काव्यभाषा पर विचार किया है। रीतिकाल के प्रमुख कवियों में घनानन्द पदमाकर और बिहारी को भी लिया है। पर उनका काव्य-भाषिक अध्ययन-विवेचन भी संबद्ध आधार-भाषाओं की व्याकरणिकता में सिमटकर रह गया है। आश्चर्य इस बात पर होता है कि काव्यभाषा के सैद्धांतिक विवेचन में उन्होंने आधारभाषा और सर्जनात्मक काव्यभाषा का अन्तर भी स्पष्ट किया है। पर अपने व्यावहारिक विवेचन में वे इस सर्जनात्मकता को आधार नहीं बना सके हैं। हाँ, यत्र-तत्र आधार-भाषिक विवेचन के अन्त में उसकी पुच्छभूता यत्किंचित् चर्चा भले ही देखने को मिल जाती है। पर इससे न तो मध्यकालीन काव्यभाषा की सर्जनात्मक क्षमता उद्घाटित-विवेचित हो पाई है और न ही यह भाषिक सर्जनात्मकता संबंधित काव्यकृति को किस प्रकार सार्थक और साभिप्रायित करती है, यही ज्ञापित हो पाया है। कहना न होगा कि आज भी हिन्दी में काव्यभाषा-परक आलोचना इसी सरणि पर की जाती है। मूलतः काव्यभाषा की यह आलोचना रूपवादी आलोचना है, जहाँ भाषा को कथ्य और अर्थ से विच्छिन्न रूपों में विवेचित किया जाता है, पर सर्जनात्मक काव्यभाषा कथ्य और रूप की इस द्वयता को इस 'डिकेटमी' को नहीं मानती है और सर्जनात्मकता को साभिप्रायिता-सार्थकता से जोड़ती है।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि काव्यभाषा का अध्ययन केवल 'शब्दकेंद्रित' नहीं होता है, वह 'संरचना' (वाक्य-संरचना) केंद्रित भी होता है। प्रायः काव्यभाषा के द्वारा कृति में तलस्पर्शी प्रवेश इसी वाक्य-संरचना के जरिए संभव हो पाता है। इसीलिए मिस नवोतनी नामक पश्चिमी आलोचिका ने वाक्य-संरचना को सर्जनात्मक काव्यभाषा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इकाई तक माना है। हिन्दी काव्यभाषा की आलोचना में काव्यभाषा का यह पक्ष भी उपेक्षित-अतिचारित रह जाता है। कहना न होगा कि हिन्दी के आलोचकों को काव्यभाषिक, विवेचन-विषयक इन सभी दुर्बलताओं पर ध्यान देने की आवश्यकता है, जिससे इस विवेचन को सार्थकता और अद्यतन परिपक्वता प्राप्त हो सके।

हिन्दी में कथाभाषिकी आलोचना की स्थिति भी यथावत् है। वहाँ भी भाषा-विवेचन मुख्यतः 'शब्दकेंद्रित' है। अंतर यह है कि यहाँ शब्द-प्रयोगों के उत्स का, संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला, पंजाबी, उर्दू, फारसी, अरबी में वर्गीकरण कर आनुपातिक प्रयोग निर्धारित किया जाता है। फिर व्याकरणिक कोटिगत वर्गीकरण भी किया जाता है तथा

इसकी संप्रेषणीयता-असंप्रेषणीयता पर प्रकाश डाला जाता है। कभी-कभी कथाभाषा का विवेचन रूढ़ शैलीगत रूप में भी कर दिया जाता है, पर वह भी तालिकाकरण-मात्र होता है। इन सबसे काव्यभाषा की तरह ही इनकी सर्जनात्मकता रेखांकित-उद्घाटित नहीं की जा पाती है। शब्द के अतिरिक्त वाक्यों, वाक्य-संरचनाओं, प्रोक्तियों, प्रोक्ति-गठनों को बिलकुल उपेक्षित कर दिया जाता है, साथ ही सर्जनात्मक भाषिक तत्त्वों की भी बाहरी और भीतरी संगति नहीं दिखाई जा पाती है। अब तक भाषा के प्रकार्यों (Functions) के आधार पर भी यहाँ अध्ययन संभव नहीं हो पाया है।

हिन्दी में नाट्यभाषिक आलोचना तो घोर उपेक्षित है। यहाँ सबसे अधिक बल बोलचाल की भाषा, पात्रानुकूल भाषा और यथार्थ भाषा पर दिया जाता है। पर भाषा की नाट्य-संगति कैसे बनती है, इसकी पहचान हिन्दी के नाट्यालोचकों को नहीं है। वे 'भाषा व्यवहार शास्त्र' (Pragmatics) के जानकार नहीं हैं। पर नाट्यभाषा के अध्ययन-आलोचन के लिए इस क्षेत्र में ग्राइस, ऑस्टिन और सार्ले (Grice, Austin & Sarle) के सिद्धांतों को जानना बहुत आवश्यक है। नाट्यभाषा के आलोचक ज्यादातर यहाँ भी 'शब्द' के पीछे पड़े रहते हैं। पर नाट्यभाषा का नाभिकेंद्र 'प्रोक्ति' (Discourse) है, शब्द नहीं। पर इससे 'शब्द' की अपनी सार्थकता खंडित नहीं होती। मूल तो यहाँ 'अंदाजबयों' का अध्ययन-विवेचन है, जो 'भाषा व्यवहार शास्त्र' के सिद्धांतों के स्वरूप और उसकी सक्रियता से परिचित होने पर साभिप्रायित तौर पर निरूपित-विवेचित हो सकता है। नाट्यभाषा का एक दूसरा पक्ष उसके रंगमंचीय पाठ (Theatrical Text) का भी है, जहाँ भाषेतर संकेत-भाषा का अध्ययन भी नाट्य-प्रस्तुति की सार्थकता को उजागर करता है। यद्यपि इस तरह की नाट्य-आलोचना हिन्दी में आरम्भ हो चुकी है, पर विवक्षा-सूत्रों (Maxim of Implicature) की जानकारी का अभाव नाट्यभाषिक आलोचना का दुर्बलतम पक्ष है, जिस ओर नाट्य-अध्येताओं और आलोचकों को अपनी संपन्नता और समृद्धि के लिए ध्यान देना चाहिए।

हिन्दी में 'हरण परक आलोचना' उसकी अकादेमिक आलोचना का दुर्बलतम पक्ष है। ऐसी आलोचना साहित्य-विवेक के अभाव में, ईमानदारी और निष्ठा के अभाव, में जन्म लेती है। यह आलोचना आलोचकत्व नहीं रहने पर भी, आलोचना करने की शक्ति-क्षमता नहीं रहने पर भी, पदोन्नति के लिए अथवा चोर दरवाजे से श्रेय और यश की कामना से लिखी जाती है। राजशेखर ने चौर कवियों के लिए अपनी 'काव्यमीमांसा' पुस्तक में पूरे 'हरण-प्रकरण' का विवेचन किया है। आलोचना के क्षेत्र में जब वह तस्करि (Plagiarism) घटित होती है तब 'हरणपरक आलोचना' सामने आती है। इसमें आलोचक-विशेष की आलोचना के पृष्ठ-दर-पृष्ठ बिना किसी उद्धरण-चिह्न के और बिना किसी प्रकार से उस आलोचक के नाम का उल्लेख किये ही हरणकर्ता आलोचक द्वारा अपनी आलोचना में ग्रहण कर अपना बना लिए जाते हैं। हिन्दी आलोचना में विगत चार-पाँच दशकों में इस प्रकार की आलोचकीय प्रवृत्ति अनुसंधाताओं

और प्राध्यापकों द्वारा की जाने वाली आलोचना में प्रभूत मात्रा में सामने आई है। कहना न होगा कि ऐसी प्रवृत्ति किसी भी भाषा-साहित्य की आलोचना पर धब्बा लगाती है, उसे कलंकित करती है। आज हिन्दी में इस 'हरणपरक आलोचना' की विद्यमानता हिन्दी आलोचना के लिए घोर चिन्ता का विषय है, जो हिन्दी आलोचना को क्षीण और शक्तिहीन करती है। अतः ऐसी आलोचना को हिन्दी में प्रतिबंधित किए जाने की अपेक्षा है।

दारोगाई मानसिकता वाली आलोचना भी हिन्दी आलोचना के नाम पर बट्टा लगाती है। मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में लिखा था कि "आलोचक साहित्य का दारोगा होता है।" हिन्दी आलोचना में सर्जकों को उठाने, गिराने, प्रशंसित करने, उपेक्षित करने, इसकी पूरी दबंगई-भरी 'राजनीति', इसी मानसिकता की देन है। यह एक प्रकार की घोर पक्षपातपूर्ण आलोचना है। इससे आलोचना की प्रामाणिकता नहीं रह पाती है। कहना न होगा कि आज हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में मार्क्सवाद की जो माफियागिरी है उसने इस प्रकार की आलोचना को हिन्दी में विकसित किया है। मार्क्सवादी आलोचकों ने प्रभुत्व में रहने पर या अपने प्रचार-तंत्र के बल पर इस प्रकार की मानसिकता के वशीभूत अपने चहेतों को ऊपर उठाया है और उसके समानांतर योग्य साहित्यकारों की घोर उपेक्षा की है, उन पर आरोप लगाए हैं, उनका छिद्रान्वेषण तक किया है और अपने प्रभुत्ववाद में उन्हें विभिन्न पुरस्कारों और सम्मान तक से वंचित किया है। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में यह विगर्हणात्मक स्थिति अब तक बनी हुई है। सही आलोचना सिद्धांत और कृति दोनों की गुणात्मकता पर आधारित होती है। पर जनवाद का नारा देने वाले आलोचक अपना घोर राजतंत्रीय प्रभुत्व-सामर्थ्य दिखाकर हिन्दी आलोचना की शक्ति-क्षमता पर ऐसा कुठाराघात करते हैं, जिससे उसकी प्राणशक्ति नष्ट होती है। स्पष्ट है कि किसी भी साहित्य की आलोचना को ऊर्जा और शक्ति-क्षमता उसके आलोचकों की पूर्वग्रहहीन गुणात्मक परख से प्राप्त होती है, न कि दारोगाई मानसिकता वाली प्रपंच-परकता से। हिन्दी आलोचना में भी जब पूर्वाग्रहहीन न्यायनिष्ठा और निर्णयात्मक संतुलन की प्रामाणिकता के प्रति आग्रह बढ़ेगा, दृढ़ता आएगी तभी इस दुर्बलता से यह मुक्त हो पाएगी।

हिन्दी में अभी प्रत्यालोचना (Meta criticism) भी बहुत विकसित नहीं है। प्रत्यालोचना मूलतः आलोचना की आलोचना है। इसमें पहले की गई आलोचना की भ्रांतियों, गलत स्थापनाओं और तर्क-असंगतियों को उद्घाटित किया जाता है। इसकी सोद्देश्यता पाठकों में वह साहित्य-विवेक जाग्रत करना है, जिससे साहित्य की वास्तविक पहचान और उसके सम्यक् मूल्यांकन के प्रति उसकी दृष्टि साफ हो सके। हिन्दी में इस तरह की युक्तिसंगत और तर्कपूर्ण प्रत्यालोचना डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखी है। पर उसके बाद 'प्रत्यालोचना' के नाम पर आज जो कुछ भी लिखा जा रहा है उसमें आरोप-प्रत्यारोप ही अधिक हैं, आरोपों में भावात्मक स्तर पर ही खंडन देखने को

मिलता है। इसके लिए न तो तर्क और न प्रामाणिक आधार ही दिए जाते हैं, जिससे यदि पूर्व आलोचना में पूर्वाग्रहपूर्ण आरोप किए गए हैं, तो उसे अयुक्तिसंगत सिद्ध किया जा सके। अतः एक-दो अपवादों को छोड़कर हिन्दी आलोचना में अभी प्रत्यालोचना की स्थिति दुर्बल ही बनी हुई है। वह भी कर्तव्य-चेतना और स्तरीयता प्राप्त नहीं कर पाई है।

अन्ततः यहाँ यह भी विचारणीय है कि अपने साध्य और अपनी सोद्देश्यता को सुरक्षित रखते हुए भी अपने देश की हिन्दी आलोचना 'कच्चे माल' (Raw Materials) तक के रूप में भी प्रौद्योगिकी (टेकनॉलोजी) का अनुप्रयोग और उपयोग नहीं कर पाई है, जबकि जापान जैसे देशों में आज से पैंतीस वर्ष पूर्व से हिन्दी साहित्य के अध्ययन, अध्यापन और आलोचना के सन्दर्भ में इस दिशा में अभिरुचि, संकल्पशक्ति और क्रियात्मकता देखने को मिल जाती है। हिन्दी आलोचना को इस दुर्बलता से भी शीघ्र मुक्त होने की अपेक्षा है, जिससे इस आलोचना को अद्यतन स्तरीयता प्राप्त हो सके।

इन सभी दुर्बलताओं पर ध्यान देने से यह निष्कर्षित होता है कि हिन्दी आलोचकों को अपनी आलोचना की इन दुर्बलताओं से मुक्ति के लिए अधिक-से-अधिक पढ़ने और चिन्तन-मनन करने की अपेक्षा है। उन्हें अधिक-से-अधिक साहित्य-विवेक और जीवन-विवेक से संपन्न होने की और पूर्वग्रहहीन, मौलिक दृष्टि से प्रणयन करने की अपेक्षा है। कार्लाइल की एक उक्ति अनायास ही याद आ जाती है कि "Reading without thinking is dangerous and thinking without reading is the sheer waste of time."

यहाँ मैंने हिन्दी आलोचना के दुर्बल पक्षों को भावात्मकता और अभावात्मकता, घनात्मकता और ऋणात्मकता तथा विद्यमानता और अविद्यमानता दोनों ही दृष्टियों से विवेचित किया है। उद्देश्य यह रहा है कि हिन्दी आलोचना में ऐसा क्या है, जो उसका दुर्बल पक्ष है, उसे रेखांकित कर दिया जाए; साथ ही यह भी कि वहाँ क्या नहीं है, जिसके कारण वह परिपूर्ण और शक्तिपूर्ण नहीं हो पा रही है, इसे भी बता दिया जाए। पर इसका यह आशय नहीं लिया जाना चाहिए कि हिन्दी आलोचना में कुछ भी श्रेयस्कर और महत्त्वपूर्ण नहीं है। हिन्दी में श्रेयस्कर और महत्त्वपूर्ण भी है। पर मेरा मन्तव्य विश्व-साहित्य की आलोचना की तुलना में हिन्दी आलोचना की स्थिति और दुर्बलता पर विचार करना रहा है। वह भी बहुकालिक और समकालिक दोनों ही अक्षों पर, पुरातन के साथ तुलना में और समकालीनों के साथ भी तुलना में, जिससे हिन्दी आलोचकों को वह अभिप्रेरण प्राप्त हो सके कि वे विश्व के शेष साहित्यालोचन से टक्कर ले सकें, मौलिक साहित्य-सिद्धांतों का प्रणयन, अपनी संदृष्टि से पूर्व प्रणीत सिद्धांतों की अभिनव व्याख्या कर उसे दिशादान कर सकें तथा अपनी क्लासिक साहित्य कृतियों का मौलिक साहित्यिक निर्वचन और मूल्यांकन कर सकें।

हिंदी आलोचना के दुर्बल पक्ष

सरजू प्रसाद मिश्र

प्रायः 'आलोचना' और 'समीक्षा' को समानार्थी मान लिया जाता है जबकि दोनों में अंतर है। 'आलोचना' शब्द में 'लोचन' जुड़ा हुआ है, जिसका अर्थ देखना है। 'समीक्षा' में 'सम' और 'ईक्षण' है, जिसका आशय है समान भाव से देखना अर्थात् गुण और दोष दोनों का अवलोकन करना। कहा जाता है कि साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए समीक्षक में साहित्य-विवेक और भावकत्व की आवश्यकता होती है। इसे दूसरे शब्दों में कहें तो ज्ञान की गठरी ढोने से ही काम नहीं चलता उनमें सहृदयता होना अनिवार्य है। ध्यान से देखें तो प्रत्येक यशस्वी आलोचक प्रारंभ में कवि रहा है और बाद में अपने दोनों व्यक्तियों को समानांतर लिए चल सका है या उसका रचयिता व्यक्ति उसके समीक्षक व्यक्तित्व में पौराणिक सरस्वती की तरह विलीन हो गया है। उदाहरणस्वरूप आचार्य रामचंद्र शुक्ल डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. नगेंद्र, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. 'शीतांशु' आदि के नाम लिए जा सकते हैं। हर समीक्षक सबसे पहले साहित्य का अच्छा पाठक होता है। वह रचना का रस ग्रहण कर अपनी अनुभूति को शब्दों के माध्यम से व्यक्त कर उसे अन्य पाठकों तक पहुँचाता है। लेखक समीक्षक दूधनाथ सिंह ने आलोचना के संबंध में बड़े पते की बात कही है 'दरअसल, किसी कविता, कला, कथा, विचार या लेखक के प्रति एक सहज उत्सुकता जगाना और उसे समझने का मार्ग प्रशस्त करना ही आलोचना का उद्देश्य है। आलोचना जिस तरह बचाव नहीं उसी तरह 'हलाल की साजिश' भी नहीं है। वह किसी कलाकृति को समझने का एक समानांतर रूपक है। (महादेवी, उपकथन)।

हिंदी समीक्षा का उदय काल यदि हम भारतेंदु-युग को मानें तो आज इक्कीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक वह एक लंबा रास्ता तय कर आई है। इस लिहाज से उसे ह्रष्ट-पुष्ट, तंदुरुस्त होना चाहिए। दुःख की बात है कि वह ऐसी नहीं है। साहित्य

*डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, रा.तु.म. नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर; पता : 46, पठान ले आउट, रिंग रोड, नागपुर 440022, मो. 9422148067

से जुड़े दो महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के उद्गारों को देखें तो हमारा दुःख गहरा हो जाता है

1. 'प्रायः देखा गया है कि इधर पुस्तक समीक्षाएँ भी हिसाब-किताब चुकाने का अस्त्र बनती जा रही हैं। किसी भी भाषा के लिए यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। यह कहना भी ज्यादा गलत न होगा कि हिंदी में कम ही समीक्षाएँ पूर्वग्रह से मुक्त दिखाई देती हैं। यह प्रचलन बढ़ता जा रहा है कि मित्र-मित्र की प्रशंसा करता है और जो मित्र नहीं है या समीक्षक के शिविर का नहीं है, उसकी जमकर धुनाई की जाती है। दक्षिण पंथियों के लिए प्रत्येक दक्षिणपंथी उत्कृष्ट रचनाकार है और गैर-दक्षिणपंथी निकृष्ट। वामपंथियों के लिए भी यही सच है।' (रवींद्र कालिया, संपादकीय 'दस्तखत', नया ज्ञानोदय, मार्च 13)।
2. 'आज समाज में आलोचना का स्थान सिकुड़ा है। यह आलोचना नहीं निर्लज्ज तारीफ, इमेज मैनेजमेंट और ब्रांड एंबेसडरों का जमाना है। अब आलोचना पेड-क्रिटिसिज्म है, यह प्रबंधन का मामला है। कई बार यह वैचारिक तहस-नहस या दूसरे को रौंदते हुए आगे निकलने की होड़ है। अब आलोचना में विचार की कमी हो गई है। इसलिए चारों तरफ चाटुकारिता या आरोप-प्रत्यारोप ज्यादा है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इनकी वजह से विचार में जितना ही सन्नाटा है, आलोचना में उतनी ही मारकाट मची है। समाज जब झुंडों में रूपांतरित होने लगता है, सबसे पहले आलोचनात्मक दृष्टि का क्षय होता है।' (शंभुनाथ, आलोचना से सरोकार, नया ज्ञानोदय, मार्च 13, पृ. 46)।

यह दशा इक्कीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक की है। हम अब जरा पीछे की ओर लौटें। हिंदी समीक्षा के मूर्धन्य महानुभावों के आचरण की जाँच करें। पूर्वग्रहयुक्त होकर अच्छा लिख रहे समकालीन नयी पीढ़ी के कृतित्व को सहानुभूतिपूर्वक न देखकर उन्हें बाह्य प्रभाव मानना और उनके कथ्य को किसी एक सरल से सूत्र से जोड़कर पल्ला झाड़ लेना कहाँ कि दयानतदारी है? तुलसीदास और सूरदास के काव्य को लाल-पीले वस्त्रों की कैद एवं भक्तमंडली के झॉझ-मँजीरों के निनाद से मुक्ति दिलाकर उसके वृहत्तर साहित्यिक गुणों का दिग्दर्शन करानेवाले आचार्य रामचंद्र शुक्ल आधुनिक हिंदी काव्य की एक महत्त्वपूर्ण धारा के साथ न्याय न कर सके। छायावाद के बारे में उनकी दृष्टि पूर्णतः संकुचित है। अपने इतिहास में उन्होंने लिखा है 'छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका संबंध काव्यवस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है।' उनके अनुसार 'छायावाद' का केवल पहला अर्थ भूल अर्थ लेकर तो हिंदी काव्य-क्षेत्र

में चलनेवाली सुश्री महादेवी वर्मा ही हैं। पंत, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक पद्धति या चित्रभाषा शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाए। आगे चलकर यह सिद्ध हो गया कि छायावाद संबंधी शुक्ल जी की समीक्षा कितना एकांगी और अपूर्ण थी। रहस्यवाद संपूर्ण छायावाद न होकर उसकी एक प्रवृत्ति मात्र है और उसकी विषयवस्तु बहुत व्यापक है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने जयशंकर प्रसाद और निराला के काव्य की संतुलित समीक्षा की, लेकिन प्रेमचंद के संबंध में वे निष्पक्ष न रह सके। 'हंस' के आत्मकथा अंक को लेकर वे प्रेमचंद से टकराए। इतिहास में वे प्रेमचंद विरोधी के रूप में अंकित हो चुके हैं। वस्तुतः वे काव्य के आलोचक थे। कथा-साहित्य में उनकी गति नहीं थी। इस विधा से वे छेड़छाड़ न करते तो अच्छा होता। 'गोदान' जैसी कृति को उन्होंने दोषपूर्ण बताया है।

जब समीक्षक किसी विचारधारा, संगठन या शिविर के दबाव का बोझ ढोते हुए समीक्षा कर्म में प्रवृत्त होता है तो उसकी संवेदनशीलता, उसकी भावन शक्ति अपने प्रकृत रूप में नहीं रह जाती है। साहित्यिक कृति में निहित गहन अर्थों तक वह नहीं पहुँच पाती है। साहित्य अखबारी लेखन से अलग होता है। साहित्य अपनी समकालीनता से जुड़कर उससे परे जाता है। इसे 'कालाकित' और 'कालातीत' शब्दों के द्वारा समझा जा सकता है। मुक्तिबोध प्रसाद की 'कामायनी' का मूल्यांकन करने में 'कालाकित' तक ही सीमित रह गए हैं। प्रसाद जी मनु और श्रद्धा के कथानक के माध्यम से भौतिक जीवन के सुख-दुःख तक ही सीमित न रहकर ऊँची उड़ान भरते हैं। पार्थिव से अपार्थिव की ओर जाते हैं। 'कामायनी' भौतिकवादी दृष्टि की परिसीमा दर्शाते हुए उसके दुष्परिणामों की ओर संकेत करती है। भौतिकतावाद पर आधारित मार्क्सवादी चिंतन से प्रेरित मुक्तिबोध की प्रज्ञा कामायनीकार के मंतव्य को आत्मसात नहीं कर पाई।

जो प्रगतिवाद से नाता तोड़कर अपने वैचारिक स्वातंत्र्य को वरीयता देते हुए साहित्य-लेखन कर रहे थे, उनके प्रति प्रगतिवादी आलोचकों ने दुर्भावना का परिचय देते हुए उनके साहित्य को आत्मकेंद्रित, व्यक्तिवादी या 'नदी के द्वीप' की संज्ञा प्रदान की। बहुमुखी प्रतिभा के धनी अज्ञेय पर क्षणवादी, अस्तित्ववादी आदि होने का आरोप लगाते हुए उनके लेखन को निकृष्ट सिद्ध किया गया। इन प्रयासों को हम हिंदी आलोचना के दुर्बल पक्षों में परिगणित करेंगे। हिंदी की मार्क्सवादी समीक्षा के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर डॉ. नामवर सिंह ने स्वयं स्वीकार किया है कि '1956 तक जिस तरह की मार्क्सवादी आलोचना लिखी गई, चाहे वह सोवियत संघ में हो, पश्चिम यूरोप के देशों में हो, चाहे अन्यत्र, यह बहुत ही यांत्रिक, स्केमेटिक और कट्टरपंथी राजनीतिक दृष्टि से परिचालित थी और आज यह माना जाने लगा है कि इस दौर की साहित्यिक

आलोचनाएँ मार्क्सवाद की बहुत उथली और कच्ची समझ का परिणाम थीं।' जिस 'कविता के नए प्रतिमान' पुस्तक पर डॉ. नामवर सिंह को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला उसमें रूपवादी आलोचना के तत्त्वों की भरमार है। रेणु के 'मैला आँचल' उपन्यास की अनदेखी करने पर अब उन्हें पश्चाताप होता है और कृष्णा ताप के 'जिंदगीनामा' को उन्होंने हिंदी का उपन्यास नहीं माना। प्रगतिवादी होकर भी वे मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता 'अँधेरे में' की गंभीर और सार्थक समीक्षा नहीं कर सके। डॉ. पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु' ने डॉ. नामवर सिंह की प्रकृति को ठीक-ठीक पकड़ा है 'मेरी दृष्टि में नामवर सिंह साहित्यालोचन की गहराई में नहीं जाते, केवल अपनी ऐसी टिप्पणियाँ देते चलते हैं, जो बाद में हास्यास्पद बनकर रह जाती हैं। वह सुधी पाठक के विवेक को नजरअंदाज कर देते हैं तथा अपनी चमत्कारी उक्तियों से अपना एक अनुगामी वर्ग बना लेते हैं।' (हिंदी आलोचना के आर पार, पृ. 95)।

हम ऊपर कह आए हैं कि समीक्षा गुण-दोष दोनों को उजागर करती है। दोष एक सच्चाई होती है। समीक्षक द्वारा रेखांकित सच्चाई को जब लेखक या कवि पचा नहीं पाता है तो उसका संतुलन बिगड़ जाता है और वह आलोचक को अपना शत्रु समझ उसके प्रति आक्रामक रुख अपना लेता है। इस संबंध में हम दो उदाहरण देना चाहेंगे। डॉ. नामवर सिंह की पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' की समीक्षा डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखी, जिसमें आलोचनात्मक असंगतियों का उद्घाटन था। (देखिए 'नई कविता और अस्तित्ववाद', पृ. 58-59)। डॉ. नामवर सिंह ने डॉ. शर्मा के जीवन-काल में इसका कोई उत्तर नहीं दिया। अपने अंदर दबे-छिपे क्रोध को उन्होंने डॉ. शर्मा के निधन के बाद सन् 2001 में 'आलोचना' के सहस्राब्दी अंक पाँच में उन्हें 'इतिहास की शवसाधना' करने वाला कहकर प्रकट किया। इस पर तीखी प्रतिक्रिया हुई। 'दस्तावेज' के संपादक डॉ. विश्वनाथ तिवारी की राय में 'यह अंक संपादकीय बदनीयत का अविस्मरणीय उदाहरण है।' कमलेश्वर ने पूछा 'यह क्लीव साहस उनके मरणोपरांत क्यों?' मानसिक संतुलन ढलने का दूसरा उदाहरण निराला का है। अपने एकांकियों के आधार पर प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाले भुवनेश्वर का लखनऊ से प्रकाशित 'माधुरी' (सन् 1936) पत्रिका में निराला संबंधी एक आलेख प्रकाशित हुआ। निराला की आलोचना करते हुए भुवनेश्वर ने लिखा 'निराला बंगाली संस्कृति का कवि है। वह संस्कृति जो टैगोर के द्रुत Mannerism से पैदा हुई है, जिसके अति विश्लेषण में कबीर, ब्लैक सभी आते हैं। पंत को उसने बार-बार टैगोर का Protege बताया है, पर सत्य यह है कि निराला भी टैगोर को न पचा सका। वह Mannerism का कवि है, वह उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का कवि है, वह अपने सर्वोत्तम रूप में भी एक चतुर शिल्पी है। शायद महान भी, पर महान कवि नहीं।' इस आलेख की भनक पड़ते ही निराला विचलित हो गए और उसे छपने से रोकने की भरसक कोशिश की, लेकिन

सफलता नहीं मिली। आखिर निराला की इस घबराहट का क्या कारण था? भुवनेश्वर की समीक्षा उनके महत्त्व को कम नहीं कर सकती थी। फिर इतनी दौड़-धूप की क्या जरूरत थी? समीक्षा के प्रति कृतिकारों की असहिष्णुता निष्पक्ष समीक्षा के विकास में बाधक है। इसी कारण समीक्षा में मित्रवाद और वैरीवाद की प्रवृत्ति विकसित हुई। यदि कृति में दम है तो आज नहीं तो कल उसका महत्त्व मान्य होगा ही। लेकिन भवभूति की तरह धैर्य धारण करनेवाले रचनाकार बहुत विरल हैं। वे केवल प्रशंसा चाहते हैं, दोष-दर्शन नहीं।

किसी साहित्यकार को उठाने के लिए किसी अन्य को गिराने की प्रवृत्ति भी समीक्षा का दुर्बल पक्ष है। निराला और पंत को लेकर ऐसा बहुत घटित हुआ है। इसे अंधी भक्ति कहा जा सकता है। इस संबंध में प्रोफेसर दूधनाथ सिंह का कथन द्रष्टव्य है 'पंत के किले को ढहाने में निराला जी के सारे सहयोगियों, श्रद्धालुओं और उनकी चकमक कविता से चौंधियाए हुए लोगों ने उनका साथ दिया। साहित्यालोचना में अंधी भक्ति किसी काम की नहीं होती जो कि रामविलास जी में सबसे अधिक है। निराला को बड़ा करने के लिए पंत को ढहाने की कोई जरूरत नहीं थी, लेकिन यह काम रामविलास जी ने लुहार का हथौड़ा लेकर किया।' ('भुवनेश्वर समग्र' की भूमिका, पृ. 55)। 'निराला की साहित्य साधना' के प्रथम खंड में डॉ. रामविलास शर्मा ने पंत के बारे में जो लिखा है, उसके दो नमूने यहाँ प्रस्तुत हैं :

1. 'पंत अपनी सुंदर वेशभूषा में, कोमल चरण, लघु भार लेते हुए निराला की कमर चापते। निराला कहते तुम राधा हो, मैं कृष्ण हूँ। पंत को लगता निराला का चेहरा कृष्ण जैसा नीला है।' (पृ. 493)

2. 'पंत नित नई काव्य-पुस्तकें भी प्रकाशित कराते रहे, पर उन्हें वह खोई हुई लोकप्रियता न मिली। लोग उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे। इसके विपरीत अर्ध-विक्षिप्त निराला का सम्मान बढ़ने लगा और मरने के बाद तो दिनकर के शब्दों में वह हिंदी संसार पर छा गए। इसकी प्रतिक्रिया पंत के मन पर हुई। आत्मपीड़न की भावना के साथ आत्मरति के भाव का विस्तार हुआ।' (पृ. 503)

इन उद्धरणों से शर्मा जी की मंशा स्पष्ट हो जाती है। वे निराला को ऊपर उठाने के लिए पंत को गिरा रहे हैं। यदि पंत का काव्य निर्जीव हो रहा था तो 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' जैसी कविताओं के रचयिता निराला ईश-वंदना और शरणागति के गीत लिखने लगे थे। क्या उनका काव्य-स्तर नीचे नहीं गिर रहा था?

वैचारिक संगठन, दलबंदी और किसी शिविर से संबद्ध न होने वाले साहित्यकारों की हिंदी के स्वनामधन्य समीक्षक कितनी उपेक्षा करते हैं, इसके ढेरों उदाहरण मिल जाएंगे। मैं यहाँ श्री दूधनाथ सिंह का ही उदाहरण देना चाहूँगा, जिन्होंने काव्य, कहानी, उपन्यास, समीक्षा आदि विविध विधाओं में अपनी ऊर्जस्वी रचनात्मक प्रतिभा का

परिचय दिया है, लेकिन हिंदी जगत उन्हें साठोत्तरी कहानीकार के रूप में ही जानता है। उनका 'निराला : आत्महंता आस्था' एक मौलिक समीक्षक ग्रंथ है जो निराला संबंधी दर्जनों किताबों में अलग ही दिखाई देता है। अयोध्या की घटनाओं की पृष्ठभूमि पर उन्होंने वृहदाकार उपन्यास 'आखिरी कलाम' लिखा जो अपने कथ्य और शिल्प में बेजोड़ है, लेकिन हिंदी समीक्षा के कानों पर जूँ न रेंगी। उसकी प्रतिक्रिया हल्की-फुल्की रही। पढ़ा जरूर गया होगा, लेकिन लिखने में कंजूसी की गई। सन् 2009 में राजकमल प्रकाशन से उनकी पुस्तक 'महादेवी' प्रकाशित हुई जो अनुसंधानात्मक समीक्षा का बेहतरीन उदाहरण है। महादेवी अपने गीतों के कारण रहस्यवादी कवयित्री मानी जाती हैं लेकिन उनके रहस्यवाद के मूल स्रोत को खोजने की किसी ने कोशिश नहीं की। दूधनाथ सिंह जी ने सर्वप्रथम इस रहस्य को भेदा है। इसका संबंध मध्यप्रदेश के नरसिंहगढ़ से है 'दरअसल ...उनके पार्थिव-अपार्थिव, उनके निराकार की अलभ्य कुंजी नरसिंहगढ़ के महल के खंडहरों में कहीं गिरी-पड़ी दफन हो गई है।' (महादेवी, पृ. 257)। महादेवी ने अपने संस्मरणों में कहीं भी नरसिंहगढ़ और वहाँ बिताए दिनों का भूल कर भी जिक्र नहीं किया है। उनके पिता गोविंद प्रसाद वर्मा ने सन् 1913 से सन् 1929 तक वहाँ विक्रम हाईस्कूल के हेडमास्टर के पद पर कार्य किया। नरसिंहगढ़ के महाराजा विक्रमसिंह गोविंद प्रसाद जी के शिष्य थे। उनका नायब दीवान एक स्थानीय बोहरा युवक मुल्ला अब्दुल कादिर था। महाराजा की पत्नी रानी शिवकुँवर महादेवी की हम उम्र थीं। दोनों में घनिष्ठता हो गई और महादेवी का महल में आना-जाना बढ़ गया। महादेवी और बोहरा युवक को लेकर जब बाहर प्रवाद फैलने लगा तो उनकी माता हेमरानी देवी के दबाव में आकर उनके पिता ने महादेवी का ब्याह कर दिया, लेकिन ब्याह के बावजूद उन्होंने गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश से इनकार कर दिया। पिता ने उन्हें और छोटी बहन श्यामा देवी को पढ़ाई के लिए इलाहाबाद भेज दिया। यही असफल प्रेम महादेवी के रहस्यवादी गीतों का प्रेरणा स्रोत है। इस प्रेरणा स्रोत के संदर्भ में दूधनाथ सिंह ने महादेवी के काव्य की बहुत तर्कसंगत व्याख्या की है 'कविता में पुराने चरित्रों की जगह आधुनिक स्त्री का प्रवेश हुआ, जो साकार और सर्वत्र थी, लेकिन जिसके प्रेम की ललक एक दबी-घुटी चीख की तरह निकलना शुरू हुई, जैसी कि भारतीय आचार संहिता की निर्ममता के बीच हमारी स्त्रियों का अँधेरा संताप था। महादेवी उसी स्त्री के मौन स्वर और चीख का प्रतिनिधित्व करती हैं।' (महादेवी, पृ. 266) आखिर देवी जी ने एक दिन अपने काव्य-लेखन में पूर्णविराम क्यों लगा दिया? दूधनाथ जी के अनुसार 'जैसे-जैसे महादेवी की स्मृति से नरसिंहगढ़ घुलता और अदृश्य होता गया और उसकी अनुगूँज क्षीण होती गई या हो गई, वैसे महादेवी का कवि जीवन भी समाप्त हो गया।' (महादेवी, पृ. 267) इतनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक का ठीक से नोटिस भी नहीं लिया गया। राजधानी के एक विद्वान समीक्षक ने

जो कुछ लिखा उसमें अपनी विद्वत्ता का बखान अधिक था, पुस्तक के लिए मात्र व्यंग्य और कदवित्तियाँ। यह हिंदी समीक्षा का सबसे दुर्बल पक्ष ही नहीं घोर अपराध भी है। वे जिस हिंदी साहित्य के बल पर खड़े हुए हैं, उसी की जड़ को निर्ममता से काट रहे हैं।

आज साहित्य और पत्र-पत्रिकाओं में नारी-विमर्श और दलित-विमर्श को प्रधानता दी जा रही है। देश का संविधान भारतीय समाज के सभी वर्गों के हितों और अधिकारों को मान्यता देता है। इस गारंटी के प्रकाश में दबे-कुचले लोग आंदोलन का सहारा ले अपनी स्थिति में सुधार हेतु प्रयत्नशील हैं। राजनीति भी अपने हितार्थ उनसे जुड़ी हुई है। इन आंदोलनों से साहित्य का प्रभावित होना स्वाभाविक है। आंदोलनकारियों की मान्यता है कि नारी और दलित साहित्य ही उनकी व्यथा-कथा को व्यक्त कर सकता है। इन वर्गों से बाहर के लेखक प्रामाणिक और विश्वसनीय नहीं हैं, क्योंकि वे भोक्ता नहीं हैं। यह कट्टरपंथी प्रतिमान समीक्षा में भी प्रयुक्त हो रहा है। इस तरह की समीक्षा निष्पक्ष नहीं हो सकती। इस तरह की संकुचित दृष्टि प्रगतिवाद ने अपनाई थी, जिसके दुष्परिणामों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। कट्टर मार्क्सवादियों के लिए सूरदास, तुलसीदास, जायसी, कबीर आदि महत्त्वहीन हो गए थे। आज नारीवाद और दलितवाद के लिए प्रेमचंद, जैनेंद्र, यशपाल, रेणु आदि अप्रासंगिक हो गए हैं। इस प्रकार की सोच समीक्षा में प्रविष्ट हो, हिंदी साहित्य का अहित कर रही है। आंदोलनों के कारण समीक्षा के प्रतिमान नहीं बदले जाते। इस राह को अपनाते पर कालिदास, तुलसीदास, सूरदास, विद्यापति, रवींद्रनाथ आदि को अंधकार में ढकेल देना होगा। फिर हमारे पास गर्व करने के लिए क्या रह जाएगा। यदि हम धैर्य रखें और बाढ़ में न बहें तो इन विमर्शों से प्रेरित लेखन में भी कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होगी जो कालांकित होते हुए भी कालातीत कही जाएगी।

हिंदी की साहित्यिक आलोचना : कुछ दुर्बल पक्ष

रमेश दवे*

साहित्य मनुष्य की सांस्कृतिक और मानवीय चेतना का सर्जन है। उसमें प्रकृति और संस्कृति एकाकार होती हैं, अनुभव और कल्पना एकाकार होते हैं और वह मनुष्य के संवेदन-तंत्र एवं सौंदर्यपक्ष से जुड़कर उसे अपने मनुष्य होने और मनुष्य बने रहने का स्वभाव पैदा करता है। दुनिया की किसी भी भाषा में कहीं भी, कोई भी साहित्य रचे, उसका भोक्ता न केवल वहाँ का समाज होता है, बल्कि यदि सृजन में सार्वभौम संवेदन है, मानवीय चेतना है तो वह समूची दुनिया का साहित्य हो सकता है, फिर चाहे उसे भारतीय परंपरा में वाङ्मय, काव्य और इतिहास का नाम दिया जाए अथवा पश्चिम में क्लासिक्स कहा जाए। यदि होमर, शेक्सपियर, टाल्सटाय, अब किसी देश विशेष के लेखक नहीं हैं तो वे आलोचना-सिद्ध ऐसे लेखक माने जाएँगे, जिन्हें सार्वभौम कहा जा सकता है और जो समय और भूगोल के सीमांतों को अतिक्रान्त करते हुए दुनिया-भर में फैल गए हैं। यह बात कालिदास और तुलसीदास, गालिब और मीर आदि के बारे में भी कही तो जा सकती है, लेकिन अफसोस इस बात का है कि हिंदी-उर्दू आलोचना ने उन्हें विश्व-विश्रुत उस प्रकार नहीं बनाया, जिस प्रकार पश्चिम में आलोचना-सिद्धांत से लेकर आज तक की आलोचना ने वहाँ के लेखकों को बनाया। यह हिंदी आलोचना का सर्वाधिक दुर्बल पक्ष है कि वह ऐसी आलोचना नहीं बनी, जो हमारे साहित्य को सार्वभौम बना सके।

भारतीय साहित्य मुख्य रूप से काव्य-साहित्य ही रहा है। इसलिए यहाँ साहित्य को भी काव्य कहा गया और उसके सिद्धांत पक्ष को काव्य-शास्त्र कहा गया। व्यापक अर्थबोध के साथ यह काव्य-शास्त्र ही अन्य अर्थात् काव्येतर विधाओं का आलोचना-विधान बना। हमारे पूर्वजों ने जिन रचनाओं को पढ़ा, समझा, उनका विश्लेषण टीका-पद्धति में किया। इस कारण टीका, कुछ काव्य-शास्त्रीय विधानों के साथ आलोचना बन गई।

* संपर्क : एस.एच. 19, ब्लॉक-8, सह्याद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल (म.प्र.); फोन-0755-2777048
मो. 094065 23071 rameshdave12@rediffmail.com

पश्चिम ने भी प्रारंभ तो पोएटिक्स से ही किया, लेकिन समय के साथ-साथ सृजन की विविधता को आँकने के लिए उन्होंने अपना आलोचना शास्त्र भी विकसित किया और उसे सतत बदला भी, बढ़ाया भी और कुछ नए सिद्धांतों का निर्माण भी किया। हम काव्य-शास्त्र पर ठहर गए और आधुनिकता से जुड़कर हमारे आलोचनात्मक मानदंड वे ही हो गए, जो पश्चिम की आधुनिकता ने रचे थे। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि हमने काव्य-शास्त्र के बाद आलोचना का कोई नया सिद्धांत रचा ही नहीं और पश्चिमी आलोचना-तंत्र को ही अपनी रचना के मूल्यांकन का आधार बना लिया। क्या एक बहुभाषीय, बहु-सांस्कृतिक और बहु-विधात्मक सृजनशील देश का अपना कोई आधुनिक आलोचना-शास्त्र न होना, हमारी दुर्बलता का परिचायक नहीं है?

आखिर आलोचना होती क्या है? सामान्य रूप से यह माना जाता है आलोचना साहित्यिक पाठ का विश्लेषण और मूल्यांकन है। यह साहित्यिक पाठ अनेक छवियों, बिंबों, सांस्कृतिक रूपाकारों की रचनाओं, लेखन और परिवेशगत अभिव्यक्ति में प्रकट होता है। अरस्तु के पोएटिक्स से लेकर आज तक आलोचना के अनेक प्रकार बने और बदले और आज हम जिस उत्तर-आधुनिकता के बीच खड़े हैं, उसमें बीसवीं शताब्दी के प्रचलित मुहावरे जैसे क्रिटिकल थियरी, कल्चरल कैपिटल, कल्चरल पोएटिक्स, हिस्टोरिसिज्म आदि भी पुराने पड़कर त्याज्य लगने लगे हैं। यह सब इसलिए हो रहा है कि जिसे हम संस्कृति कहते हैं, उसे भी हिंदी आलोचना ने उसके आधुनिक मानवीय बोध से नहीं जोड़ा। संस्कृति है क्या सिवाय मानवीय ज्ञान के विविध स्वरूपों के। हमारे अपने पारंपरिक विश्वास, सामाजिक संरचना और उसकी विविधता-युक्त प्रणालियाँ, जातीय स्मृति, अध्यात्म और समुदायों की विविधता, मनुष्य को अपनी मानवीय अस्मिता और अस्तित्व में एकाकार करती है और यही वजह है कि मनुष्य बौद्धिक और कलात्मक गतिविधियों को रचता है। यही उसका सांस्कृतिक बोध है और उसके इसी बोध से उपजी कला, साहित्य आदि की रचनाएँ संस्कृति का प्रत्यक्ष होना है। समय-समय पर सामाजिक संस्कारों और व्यवहारों का समन्वय करके ही संस्कृति निरंतरता रचती है। इस निरंतरता को हिंदी आलोचना ने अपने साहित्य और कलाकर्म में या सामाजिक संस्कारों-व्यवहारों में ठीक से आजमाया ही नहीं। हम केवल परंपरा और संस्कृति, भारत और भारतीयता का शब्द-कीर्तन करते रहे, लेकिन संस्कृति की विश्व-स्मृति और चेतना से अपनी आलोचना का स्वरूप वैश्विक नहीं बना सके। क्या यह हमारी अध्ययन-विमुखता और अति-देशजता के मोह से उत्पन्न दुर्बलता नहीं है?

जार्ज ल्यूकाच को एक मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्री माना जाता है। जार्ज ल्यूकाच ने 'उपन्यास का सिद्धांत' नामक अपनी पुस्तक में एक महत्वपूर्ण वाक्य रचा "यथार्थ उन बंधनों का भार वहन करता है, जो व्यक्ति की नियति को समग्रता से जोड़ते हैं।" इस वाक्य पर पूरी तरह विचारधारा निरपेक्ष होकर विचार किया जाए तो क्या ऐसा लगता है कि ल्यूकाच मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्री है, कि ल्यूकाच वामपंथी है, कि

ल्यूकाच किसी समाजवादी क्रांति के पोषक है या 'यथार्थ' उनके लिए किसी प्रतिबद्धता का प्रमाण है? यथार्थ को व्यक्ति की नियति की समग्रता से जोड़ना क्या यह प्रकट नहीं करता कि 'नियति' ऐसा शब्द नहीं है, जो किसी मार्क्सवाद का सूचक हो, बल्कि लगता तो यह है कि यह एक भाग्यवादी शब्द है। 'समग्रता' का प्रत्यय भी मार्क्सवाद का प्रत्यय नहीं हो सकता क्योंकि समग्रता, पहले तो कुछ होती नहीं और यथार्थ अगर किसी समग्रता का प्रतिनिधि है, तो मार्क्सवाद जो वाद के नाम पर अभी तक एकांगी और प्रतिबद्ध प्रत्यय बना हुआ है, वह अपने-आप समाप्त होकर किसी तथाकथित समग्रता में विलीन हो जाएगा। यथार्थ अपने-आप में एक वस्तुगत स्थिति है। उसे कला रूप देना एक सर्जक की कल्पना का परिणाम है। 'यथार्थ' को विचारधारा का कोई नाम देकर आलोचना कर्म करना, आलोचना का एक बड़ा दुर्बल पक्ष है। इससे आलोचना उन्मुक्त, विश्वसनीय और प्रामाणिक न होकर, पूर्वग्रह युक्त हो जाती है। इस कमजोरी को वाद-निरपेक्ष होकर हिंदी आलोचना को दूर करना होगा।

सत्य एक ऐसा मनोभाव है, जो मनुष्य-संवेदी होते ही अनेक वर्जनाओं, पूर्वग्रहों और प्रतिबद्धताओं को खंडित कर देता है। ल्यूकाच की मूल सौंदर्यात्मक दृष्टि यथार्थ के साथ समग्रता से जुड़कर क्या एकदम वादमुक्त नहीं लगती? यदि समग्रता को ल्यूकाच के शब्दों में मान भी लिया जाए तो क्या ऐसा नहीं लगता कि पूरी साहित्यिक आलोचना वादमुक्त समग्रता ही तो होनी चाहिए, फिर उसे वादों, विवादों के ऐसे खँचों में क्यों डाला जाए कि साहित्य का समूचा आकलन ही अपना पोएटिक जस्टिस या काव्य-न्याय खो बैठे? यदि हम विश्व-भर के क्लासिक्स पढ़ें तो लगेगा कि जैसे वे मिथक हों, पुराण कथाएँ हों, फैंटेसी हों, कल्पना का वायवीय एवं कलात्मक उत्कर्ष हों, लेकिन जब उनके अंदर के चरित्रों को देखते हैं, घटनाएँ देखते हैं, रचा गया परिवेश देखते हैं, भाव संवेदन देखते हैं, स्थिति और संदर्भ देखते हैं तो लगता है कि कपोल-कल्पनाओं के अंदर भी कोई सत्य होता है, कोई यथार्थ होता है और साथ ही कोई आदर्श भी होता है। ऐसा यथार्थ मनुष्य को मनुष्येतर भी बनाता है और मनुष्येतर को मनुष्य भी। इसलिए कहा जा सकता है कि वाद के आधार पर आलोचना का मार्ग संकीर्णता की ओर ले जाता है, पोएटिक जस्टिस की अवमानना करता है और यह उसका कमजोर पक्ष कहा जा सकता है।

भारत में भक्ति-साहित्य को लेकर अच्छा चिंतन हुआ। तुलसी और कबीर को लेकर तो सर्वाधिक शोध एवं समीक्षा कर्म हुआ, लेकिन तुलसी-कबीर पर आलोचना का अतिवाद इस कदर छाया रहा कि सूर, जायसी, मीरा, अष्टछाप के कवि, सूफी कवि तुलसी की तुलना में कम आँके गए। सूरदास तो केवल एम.ए. के डिस्टेंशन या विशेष कवि के रूप में शोध छात्रों के सरल कवि मान लिए गए। सूरदास पर भक्तिकाल के तमाम कवियों की अपेक्षा विश्व विचाराधीन शोध संभवतः सर्वाधिक है। इसका कारण शोधार्थियों को पूर्वशोधकर्ताओं की सामग्री बनी-बनाई मिल जाती है। काम तो उन पर

बहुत हुआ और सूर पर स्वयं रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास, नंद दुलारे वाजपेयी आदि ने भी महत्वपूर्ण काम किया, लेकिन कबीर, तुलसी के आगे सूर भी दूसरी पंक्ति में ही चले गए। इसका एक बड़ा कारण है तुलसी की लोक-मानस दृष्टि और कबीर का लोक-मानस संवेदन। दोनों के संवेदन समान, लेकिन धरातल अलग-अलग; दोनों ही राम-भक्त लेकिन दोनों के राम अलग-अलग; दोनों ही समाजोन्मुख मगर दोनों की चेतना अलग-अलग। तुलसी जन में भक्ति के पर्याय बन गए, कबीर जन में सत्य के उद्घोषक बन गए, पाखंड के आलोचक बन गए और जहाँ तक भक्ति का प्रश्न है, भक्ति में वे ईश्वरीय सत्ता के उस रहस्यलोक में चले गए, जहाँ उनकी यौगिक चेतना का कुंडलिनी जागरण था। एक कवि भाव-प्रवण, दूसरा भाव-प्रखर। इससे यह लगता है कि भक्तिकाल की आलोचना भी कुछ सीमा तक पक्षपातपूर्ण रही और समूचा भक्तिकाल कुछ कवियों में सिमट गया।

जायसी को लें तो काव्यात्मक उत्कृष्टता और सूफीयत या निराकार की रहस्य रचना में जायसी किसी कबीर या तुलसी से कम नहीं और कहीं-कहीं तो रहस्यात्मक धरातल पर काव्य-रचना करके भी वे पद्मावत को लोक-जीवन का संवेदनशील यथार्थ बना देते हैं। इसलिए जायसी तुलसी की भक्ति, कबीर के फक्कड़पन और सूरदास के वात्सल्य या शृंगार लालित्य के कवि भले ही न हों, लेकिन वे एक भाषा के ऐसे बौद्धिक कवि थे, जिसमें भाषा अपना उत्कर्ष पाती है और अपनी व्यंजना आजमाती है। भक्तिकाल के सगुण पक्ष हों या निर्गुण दोनों का जो आलोचनात्मक विवेचन शुक्लजी से लेकर आज तक हुआ उससे लगता है कि वाद-प्रभावित आलोचना से कितनी भिन्न थी उस समय की आलोचना। हजारी प्रसाद जी ने 'कबीर' लिखकर कबीर को आज की तरह किसी वाद के पिंजरे में नहीं डाला। कबीर की फक्कड़ी को हजारी प्रसाद जी ने अपनी फक्कड़ी बना लिया और कबीर के जिस अध्यात्म ने रवींद्रनाथ ठाकुर और क्षितिमोहन सेन को प्रभावित या आह्लादित किया था, वह अध्यात्म हजारी प्रसाद जी की भी आलोचना दृष्टि बना। इसलिए कबीर जो अपनी शताब्दी में थे, हजारी प्रसाद जी ने तमाम कलावादी, यथार्थवादी मार्क्सवादी आग्रहों के प्रचलन के बावजूद अपने समय में भी कबीर को उनकी निजता में कायम रखा और तुलसी को कबीर से या कबीर को तुलसी से किसी वाद के आधार पर जोड़ा या तोड़ा नहीं। आज की आलोचना इस दृष्टि से न तो शुक्ल जी की लोकमंगल की उदात्त दृष्टि पा सकती, न नंद दुलारे वाजपेयी की छायावादी-काव्यदृष्टि और न हजारी प्रसाद की कबीर-दृष्टि, क्योंकि अब कबीर किसी मंच की आलोचना के शिकार हैं, शायद वे भक्ति काल के प्रथम विद्रोही से अधिक आज के समय में सर्वहारा कवि के रूप में देखे जा रहे हैं। यह क्या आलोचना की शुद्ध दृष्टि है या राजनीतिग्रस्त स्वार्थदृष्टि? राजनीतिक मानदंडों ने साहित्यिक आलोचना की श्रेष्ठता की हानि की है।

आलोचना अपने प्रारंभिक दौर में तो काव्य-केंद्रित ही रही, फिर चाहे भारत हो या पश्चिम। यहाँ तक कि चीन, जापान, इंडोनेशिया और लातीनी देशों में भी कविता

और काव्य-आलोचना साहित्य के मुख्य केंद्र रहे। ईरान में ईरानी और अरब में अरबी एवं टर्की में टर्किक कविता में जो लयात्मकता थी, वही वहाँ की गायिकी भी बन गई। इस्लामी परंपरा में मौसिकी का जो जलवा रहा है, उससे अरबी-फारसी के बाद उर्दू कविता भी प्रभावित हुए बिना नहीं रही। यही कारण है कि गजल, कव्वाली, नज्म आदि अनेक पोएटिक फार्म्स में अरबी-फारसी एवं तुर्की-उर्दू में उत्कृष्ट रचनाएँ तो हुईं लेकिन उनकी काव्य-आलोचना ठीक से विकसित नहीं हो पाई। मीर, गालिब, इकबाल जैसे बड़े शायर होने के बावजूद आलोचना का गद्य उर्दू में उभरा ही नहीं, इतना जरूर है कि गालिब के खतों में उर्दू का नायाब गद्य है और इकबाल ने जो दर्शन संबंधी लेखन किया, उससे उर्दू गद्य को रूहानी ताकत मिली, मगर हिंदी की समांतर भाषा होने के बावजूद उर्दू साहित्य का हिंदी में और हिंदी का उर्दू में विवेचन नहीं हुआ।

जहाँ तक पश्चिम का प्रश्न है, रोमैंटिक काव्य के साथ-साथ अंग्रेजी गद्य भी लिखा गया। ब्लेक, वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, कीट्स, शैली सभी ने अंग्रेजी कविता, रोमैंटिक आंदोलन और सौंदर्यशास्त्रीय तत्त्वों को लेकर आलोचनात्मक गद्य लिखा। प्रिरेफलाइट कवियों ने कविता में पेंटिंग को जिस प्रकार देखा और रंगों की भाषा का सौंदर्यशास्त्र रचा, उससे रोमैंटिक कविता के प्रतीक और बिंब चित्रकला के बिंब बनने लगे थे।

पूर्वी यूरोप में रूस, पोलैंड, चेक गणराज्य में जो गद्य लिखा गया, उससे आलोचना को भाषिक ऊर्जा मिली। संरचनावाद, स्टाइल और भाषा वैज्ञानिक हस्तक्षेपों से और समाजशास्त्रीय एवं नृतत्वशास्त्रीय भाषा वैज्ञानिकों ने कविता या साहित्य के आकलन को पूरी तरह बदल दिया। पश्चिम की आधुनिक आलोचना में एम्बिग्विटी, तनाव, अर्थविज्ञान, शैली विज्ञान ने कविता की कसौटी न केवल बदली, बल्कि रोमैंटिक-काल की इमेजिनेशन-फैंटेसी के सिद्धांत या प्रिरेफलाइट काव्य के सौंदर्यवादी रूपकों से आगे जाकर कविता के कुछ नए मानक रचे। कविता को गीतात्मक भावुकता से मुक्त किया गया, गद्य की तरह कविता में भी भाव के साथ विचार को प्रधानता दी गई और मार्क्सवाद के प्रभाव के बाद एवं डी-सेश्योर के सिग्नीफायर-सिग्निफाइड के प्रत्ययों के बाद कविता की नई भाषा बनी, जिसने आलोचना की भाषा को भी रूपांतरित किया।

यूरोप पश्चिमी साहित्यिक आलोचना में हर समय सार्थक हस्तक्षेप करता रहा। आलोचना का अवांगार्दपन एक प्रकार से क्रांतियों और मार्क्सवादी विचारधारा का संयुक्त संस्करण कहा जा सकता है। भारत में भी आलोचना की भाषा ने महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंद दुलारे वाजपेयी और तत्कालीन (1936 के बाद) मार्क्सवादी आलोचकों से विचलन तो किया, भाषा का आलोचनात्मक रूप भी बदला, लेकिन आलोचना और रचना के अंतर्संबंध उतने गहन नहीं हो पाए, जितने शुक्ल जी के समय थे। नंद दुलारे वाजपेयी बीसवीं सदी का ताजा गद्य लाए, छायावाद को वाद की प्रतिष्ठा भी दी, लेकिन हिंदी के आलोचकों की वाहवादी जमात

उन्हें स्वीकार नहीं कर सकी। अब जब आलोचना में कॉलरिज की-सी गंभीर तन्मयता का अभाव है या अवाँगार्दपन की प्रखरता की कमी है तो नंद दुलारे जी का पुनर्पाठ किया जा रहा है और डॉ. रामविलास शर्मा आलोचना के सर्वाधिक शक्ति-संपन्न आलोचक माने जा रहे हैं। रचना के समांतर आलोचकों की जिस पीढ़ी का उदय होना चाहिए था, वह हुआ नहीं, इस कारण हिंदी की श्रेष्ठतम रचनाएँ भी श्रेष्ठ आलोचना से वंचित रह गईं।

मोटे तौर पर आलोचना के दो पक्ष माने गए हैं एक सैद्धांतिक और दूसरा व्यावहारिक। सैद्धांतिक आलोचना तो काव्य-शास्त्र की रचना से लेकर आज तक हो रही है, लेकिन रचना आधारित व्यावहारिक आलोचना अभी भी विकसित नहीं हुई है। वागीश शुक्ल ने राम की शक्तिपूजा को टीका प्रणाली में प्रस्तुत किया, जो हमारे पुराने काव्य-शास्त्रियों की ही परंपरा है। टीका तो रचना का मात्र अर्थ-निवेश है, वह संपूर्ण आलोचना नहीं। टीका से शब्द-पर्याय तो मिलते हैं, लेकिन अर्थ के व्यापक संदर्भ सीमित हो जाते हैं। इसलिए टीका एक प्रकार से नोट्स है या एनोटेशन है न कि आलोचना। रमेशचंद्र शाह और प्रभाकर श्रोत्रिय ने व्यावहारिक आलोचना का काम किया। रमेशचंद्र शाह ने छायावाद की प्रासंगिकता में रचना और रचनाकार को केंद्र में रखा, इसी प्रकार श्रोत्रिय ने अपनी पुस्तक 'संवाद और कवि परंपरा' में ऐसा ही काम किया। डॉ. विजयबहादुर सिंह ने नागार्जुन पर तो यह काम किया ही था, साथ ही 'आलोचक का स्वदेश' में नंद दुलारे वाजपेयी की समूची आलोचना-प्रज्ञा को भी खँगाला। धनंजय वर्मा ने कहानी का रचनाशास्त्र रचकर पहले तो सैद्धांतिक हस्तक्षेप किया, लेकिन उर्दू के बड़े शायरों पर जो व्यावहारिक आलोचना कर्म किया, उससे वे उर्दू आलोचकों से भी आगे गए। यद्यपि उर्दू के पास गोपीचंद नारंग जैसे आलोचक रहे हैं। यह धनंजय का योगदान माना जाएगा कि उन्होंने उर्दू रचनाकार को उनकी गुणवत्ता पर हिंदी में प्रतिष्ठित किया, ऐसा उर्दू वालों ने हिंदी के लिए नहीं किया। इससे हिंदी आलोचना में उर्दू के समन्वय की एक गहरी खाई पैदा हो गई। हिंदी आलोचना को बहुविधात्मक बनाने का काम डॉ. नामवर सिंह ने किया।

हिंदी आलोचना के लगभग सभी संदर्भों पर नामवर सिंह ने विचार किया। वे कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, डायरी आदि तमाम विधाओं पर गंभीर आलोचनात्मक टिप्पणी देकर एक उत्कृष्ट पाठक का उदाहरण पेश करते हैं। उनके पास अधुनातन विचारों का जखीरा है। भले ही वे लिखें कम मगर आलोचना को बहुपक्षीय बनाने का जो काम उन्होंने किया, वैसा हिंदी के आलोचकों में कम लोगों ने ही किया है। नए विचार के साथ आलोचना को खड़ा कर पाने की क्षमता अकेले नामवर जी ने ही दिखाई है। यह एकलता भी हिंदी आलोचना की कमजोरी है।

वाद-निरपेक्ष आलोचना और साहित्य को लेकर चर्चा की जाए तो प्रश्न उठेगा कि तुलसी और कबीर की आलोचना क्या वादों में विभक्त करके की जाएगी या उनके

काव्य-गुण पर, उनके फार्म पर, उनके शिल्प पर और जिस काल में जो संगति-विसंगति उन्होंने देखी और भोगी उसकी आंतरिक ध्वनियों पर? भक्तिकाल का संत काव्य हो, या रीतिकाल की रीतियुक्त और रीतिमुक्त कविता, क्या हम उस काल की शृंगार के वियोग-संयोग या रीति-रूपकों को किसी वाद के नाम पर आँकेंगे या उनकी काव्यात्मकता, कल्पनाशीलता सौंदर्य और तत्कालीन सामाजिकता के आधार पर? इसी प्रकार राष्ट्रीय कविता को भी देखना होगा। वैसे तो मैथिलीशरण गुप्त में भी छायावाद की आहट सुनाई देने लगी थी, लेकिन राष्ट्रीय कविता में जिस प्रकार अपने समय का उत्पीड़न, आक्रोश और विचार व्यक्त हुआ, क्या उसमें किसी वाद का कोई प्रत्यक्ष हस्तक्षेप था? शोषण, उत्पीड़न, क्रूरता, निरंकुशता आदि तो किसी भी काल में हो सकते हैं, किसी भी समाज में संभव हैं, पूँजीवाद में भी, सामंतवाद में भी और जनवाद में भी, लेकिन इनको लेकर जो साहित्य रचा गया, क्या वह संवेदन का साहित्य माना जाएगा या किसी वाद का? चेतनाएँ अनेक द्वारों से साहित्य में प्रवेश करती हैं। चेतना चाहे यथार्थ का रूपक बने या छाया का, अंततः तो वह प्रतीक, बिंब, ध्वनि, संगीत आदि का भाषिक सर्जन ही होती है, फिर फॉर्म कविता का हो, कहानी-उपन्यास का हो, या नाटक का। चेतना सामाजिक प्रभावों का ही परिणाम होती है। एक साहित्यकार अपनी कल्पना से उसे सर्जनात्मक बनाता है, फिर इसमें वाद की उपस्थिति कैसे हो गई? साहित्यिक विधाओं को अगर विचार या विचारधारा की पोशाक पहनाकर आँका गया तो क्या रचना का आंतरिक संवेदन और सौंदर्य नष्ट नहीं हो जाएगा? राजनीतिक, पार्टीवाद के आधार पर की गई जन कविता में आम सभाओं के भाषणों में कोई अंतर नहीं है। दोनों ही बयान हैं एक गद्य में तो दूसरा तुकबंदी में। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य को जानना आवश्यक है। फ्रांस की क्रांति के बाद क्रांति के विचारों को लेकर सर्वाधिक और श्रेष्ठ साहित्य रचा गया, वैसा हमारे 1857 और स्वतंत्रता आंदोलन को लेकर क्यों नहीं हुआ? उसे राष्ट्रीय साहित्य के नाम पर दोगम दरजे का क्यों कहा गया? आलोचक का क्या यह विवेक उचित था?

माना कि वाद एक विचार का ही परिणाम होता है, समाज पर उसका जो प्रभाव पड़ता है, वह साहित्य में भी अभिव्यक्त होता है। ऐसा तो लोक साहित्य में भी हुआ और अनेक लोक गीत या लोक रचनाएँ ऐसी हैं, जो अपने समय की विसंगतियों के विरुद्ध रची गई हैं, लेकिन वे वाद प्रभावित न होकर परिस्थितियों का परिणाम थीं। वे तात्कालिक थीं और चूँकि वे परिस्थितियाँ लगातार जारी रहीं या कम-ज्यादा होती रहीं, इसलिए लोक-रचनाएँ भी जारी रहीं। लेकिन एक साहित्यकार केवल जन साहित्य या लोक साहित्य नहीं रचता, वह सौंदर्य, संवेदन, स्थिति, ज्ञान, अनुभव, परिवेश, व्यवस्था, विचार सबको मिलाकर एक कल्पना करता है और उसे साहित्य की किसी विधा में रचता है। नए शिल्प या विन्यास के साथ। इसलिए उसकी रचना लोक-संबंधी भले ही न लगे, लेकिन वह विचार और बुद्धि-संबंधी होती है और भले ही समाज में

ऐसा बुद्धि-संपन्न, सौंदर्य और संवेदन-मूलक वर्ग छोटा हो, मगर वह छोटा वर्ग ही साहित्य की श्रेष्ठता का सर्जक बनता है। तुलसी या कबीर की आलोचना जो एक आलोचक करेगा, वह साहित्यिक मानी जाएगी या जनरुचि से उत्पन्न टिप्पणियाँ, जो आस्था की भावुक अभिव्यक्ति होती हैं।

भारतीय साहित्यिक आलोचना और विशेष रूप से हिंदी की साहित्यिक आलोचना का स्वभाव साहित्य-गामी होने की अपेक्षा व्यक्तिगामी या स्वयं-गामी होता जा रहा है। आधुनिक हिन्दी को खड़ा करने में जो योगदान भारतेन्दु और महावीर प्रसाद द्विवेदी का रहा, आधुनिक आलोचना को आधुनिक और वस्तुपरक बनाने का जो कार्य रामचंद्र शुक्ल ने किया, उसका एक परिणाम यह हुआ कि हिंदी में भी साहित्य-गामी आलोचना की परंपरा बनी और इस परंपरा में जायसी, कबीर, तुलसी, संत और सूफी कवि और तत्कालीन तमाम साहित्यिक रचनाओं पर आलोचनात्मक चिंतन पूरी तरह वादमुक्त होकर किया गया, जबकि प्रेमचंद के समय में वाद का प्रवेश साहित्य में हो चुका था। काव्यगत आलोचना का वह दौर रहा, इस कारण शुक्ल जी, नंद दुलारे जी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हजारी प्रसाद जी से लेकर रामविलास शर्मा तक भी हिंदी की आलोच्य विधा काव्य ही रही। प्रेमचंद को उनके समय में और यहाँ तक कि उनके बाद दस-बीस वर्षों तक कोई रामचंद्र शुक्ल नहीं मिला। जैनेंद्र, यशपाल, सुदर्शन, अमृतलाल नागर, चतुरसेन शास्त्री, फणीश्वर नाथ रेणु और उनके समकालीन अनेक कथाकार, जिनमें स्त्रियों की भूमिका महत्वपूर्ण रही, उन्हें वाद-निरपेक्ष या सामान्य आलोचक भी नहीं मिले। कथा-साहित्य को संभवतया शुक्ल जी और उनके समकाल या परवर्ती काल के आलोचकों ने आलोच्य ही नहीं माना। यदि छायावाद तक आएँ तो इस काल में उत्कृष्ट कथा-साहित्य प्रसाद और निराला और पंत ने रचा, महादेवी ने कहानी की तर्ज पर रेखाचित्र लिखे, फिर भी कथा-साहित्य का नोटिस तत्कालीन समालोचकों ने नहीं लिया। छुटपुट लेखन भले ही हुआ हो, लेकिन बीसवीं सदी के आधे से अधिक समय तक कथा आलोचना उपेक्षित ही रही, जबकि प्रेमचंद, मंटो, सुदर्शन, यशपाल आदि लोकप्रियता में रवींद्रनाथ, शरदचंद्र, बंकिमचंद्र का मुकाबला कर रहे थे। इसका कारण यह हो सकता है कि हमारी परंपरा में आख्यान भले ही लोकप्रिय विधा रही हो, लेकिन कथा-साहित्य अपनी आधुनिकता में भी प्रेमचंद के पूर्व लगभग नगण्य था। चंद्रधर शर्मा गुलेरी, देवकीनंदन खत्री या इतिहास में जाएँ तो ईशाअल्ला खॉं की 'रानी केतकी की कहानी', 'परीक्षागुरु' जैसी रचनाएँ थीं, लेकिन उन पर आलोचकों ने विशेष ध्यान नहीं दिया। जहाँ तक निबंध, नाटक, जीवनी, यात्रावृत्त, डायरी आदि विधाओं का प्रश्न है प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुंद गुप्त, शिवपूजन सहाय, रायकृष्ण दास का निबंध में; हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण लाल, रामकुमार वर्मा आदि के नाटक में जयशंकर प्रसाद के बाद जो योगदान रहा, उस पर भी ध्यान नहीं दिया गया। अज्ञेय और मुक्तिबोध ने डायरी लिखी, अज्ञेय, निर्मल वर्मा आदि ने यात्रावृत्त

लिखे, लेकिन उनकी भी साहित्यिक परख कहाँ हुई? जीवनी साहित्य भी कम नहीं लिखा गया, लेकिन क्या जीवनीकारों का मूल्यांकन हुआ?

सच्चाई यह है कि हिंदी आलोचना आज भी काव्य-प्रवृत्त ही अधिक है, वरना क्या कारण है कि नंद दुलारे वाजपेयी और हजारी प्रसाद जी कथा आलोचना के क्षेत्र में नहीं आए, जबकि हजारी प्रसाद जी तो स्वयं कथाकार भी थे। रामविलास जी ने भी निराला और केदारनाथ अग्रवाल पर अपने को निछावर कर दिया, मुक्तिबोध स्वयं कथाकार थे मगर कला के तीन क्षण की डायरी हो या अन्य लेख, कथा आलोचना के बजाय उन्होंने कामायनी का ही एक पुनर्पाठ रचा। रामस्वरूप चतुर्वेदी वाद निरपेक्ष आयोजक अवश्य रहे, लेकिन उन्होंने अपना निर्विवादपन 'कामायनी' पर ही केंद्रित कर दिया, जबकि उन्होंने अनेक विधाओं को लेकर कुछ अच्छे निबंध लिखे, जिन्हें चिंतनपरक कहा जा सकता है। रमेशचंद्र शाह, अशोक वाजपेयी, वागीश शुक्ल किसी-न-किसी प्रकार के वैचारिक अतिवाद से मुक्त रहे, वरना विजयदेव नारायण साही ने जो आलोचना की भाषिक प्रणाली पैदा की थी, उसे आलोचना में और अधिक आगे ले जाया जा सकता था। जिस प्रकार वामपंथी, नववामपंथी, मार्क्सवादी आलोचना का एकालाप और जनवादी या प्रगतिवादी कट्टरपन रहा, क्या वैसा ही कलावादी अभिजातों का भी नहीं है? विनोद कुमार शुक्ल, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, भीष्म साहनी पर किस कलावादी ने आलोचनात्मक कलम चलाई? हिंदी में आज भी बौद्धिकता, विचार संपन्न सर्जनात्मक आलोचना का अभाव ही है। हमें यह भी मानना होगा कि प्रगतिवाद या जनवाद ने राजनीतिक ढंग से आलोचना भले ही की है, मगर अपने सर्जकों की आलोचना से उन्हें स्थापित किया, जबकि अमूर्तनवादी और कलावादी तो अपनी बराबरी पर किसी को आने ही नहीं देते। श्रेष्ठता के नाम पर यह कलावादी अहंकार नहीं तो क्या है?

आज जो हिंदी आलोचना का स्वरूप है, वह अधिकांश तो पुस्तक-समीक्षा में सिमट गया है। चिंतन, अध्ययन और कृतिपरक आलोचना की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति घट गई है। यदि एक आलोचक के पास केवल पुरोवाक् या भूमिका पढ़कर टिप्पणी करना ही आलोचना का नया प्रारूप है तो ऐसी आलोचना न कृति के साथ न्याय कर सकती है, न सर्जक के साथ। आलोचना के लिए आलोचक के पास न केवल सर्जक और कृति का अध्ययन आवश्यक है, बल्कि समकाल, पूर्वकाल और संभावनाओं का संदर्भ के साथ अध्ययन आवश्यक है। सैद्धांतिक आलोचना कितनी भी विचार पुष्ट हो, लेकिन तथ्य की सामग्री तो उसे भी अपने पूर्वज, अग्रज या समकाल से ही मिलती है, फिर चाहे वह पश्चिम के मानदंड अपनाए, उत्तर आधुनिक तर्क रचे या अतीत में जाए। आलोचना का अतीत है ही कितना पुराना। आलोचना के सबसे बड़े अतीत-पुरुष तो रामचंद्र शुक्ल ही हैं। अपने वर्तमान को आलोचना के केंद्र में रखकर आलोचना कर्म करने के लिए अतीत को नेपथ्य में रखना होगा क्योंकि अतीत कभी मरता नहीं,

वह तो स्मृति को जीवित रखने का माध्यम है। कहा भी तो गया है कि अतीत भले ही एक मृत संज्ञा है, लेकिन उसकी गंध सदैव मधुर होती है। अतीत की मधुर गंध ढोते हुए भी यदि हमारी आलोचना अपने समय के सर्जन के प्रति संवेदित है तो नए-से-नए रचनाकार को आलोचक की जो प्रतिश्रुति मिलेगी, उससे सर्जक की सर्जनात्मक क्षमताओं का विकास होगा, आत्म-परीक्षण और आत्म-विवेचन होगा, भविष्य की संभावनाओं और सर्जना के प्रति भाषा, शिल्प, विषय वस्तु, विचार और कल्पना सबको नया उत्कर्ष मिलेगा। रचनाकार के मानस से न केवल कल्पना-पुष्ट होगी, बल्कि विचार और शिल्प भी पुष्ट होगी एवं अनुभव का सृजन अधिक संवेदनमय और सौंदर्यमय होगा।

जिस समय हिंदी आलोचना का शुक्ल काल सर्जक और सृजन की आलोचना लिख रहा था, वह समय आज के समय से भिन्न था। आधुनिकता के बावजूद गाँधी के आंदोलन और उनके हरिजन या अंतिम आदमी के संबंध में विचार के बावजूद, न तो हरिजन जो अब दलित माना जाता है, उस पर और न स्त्री को लेकर कोई महत्वपूर्ण सृजन हुआ और न आलोचनात्मक विवेचन हुआ। आधुनिकता इसलिए विचार और विज्ञान की सदी में समा गई और अब प्रौद्योगिकी, भूमंडलीकरण और बाजारवाद की शिकार है।

विचार ने दो धाराएँ दीं एक वामपंथ की और दूसरी दक्षिणपंथ की। राजनीतिक भाषा में इन धाराओं को जनवादी या समाजवादी और पूँजीवादी कहा गया। सर्वहारा की धारा मार्क्सवाद बन गई, जिसके राजनीतिक संस्करण आज तक मार्क्सवाद लेनिनवाद, माओवाद और नक्सलवाद में मौजूद हैं। यह सही है कि मार्क्सवाद सामंतवादी क्रूरता और जारशाही से त्रस्त सर्वहारा की मुक्ति की क्रांति बन कर आया था। रूसी क्रांति के माध्यम से जिसने पूरे यूरोप को थरथरा दिया था और तत्कालीन सोवियत संघ में स्वयं रूस के आस-पास के छोटे-छोटे देश विलीन हो गए थे और पूर्वी यूरोप तो लगभग रूसी छतरी के नीचे ही आ गया था, लेकिन मार्क्सवाद का अतिवाद इतना प्रचंड था कि सोवियत रूस में पेस्तरनाक और सखारोव नोबेल सम्मान से वंचित कर दिए गए, सोल्जेनिश्चिन को देश निकाला दे दिया गया और ब्लोक जैसा कवि नेपथ्य में चला गया। दक्षिणपंथ के पूँजीवादी और सामंतवादी ध्रुव के विरुद्ध एक नया गुप पैदा हुआ वामपंथ और समाजवाद का जिसने शक्ति के एकाधिकार के विरुद्ध शक्ति के ही द्वारा शक्ति संतुलन भी किया। बावजूद 1917 की क्रांति के, समाजवाद से न प्रथम विश्वयुद्ध रुका, न द्वितीय विश्व युद्ध रुका और क्रांति का भी सैन्यीकरण हो गया। यूरोप, युद्ध जिसका प्रिय शौक रहा है, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका जैसी शक्ति के साथ मिलकर नए शक्तित्र की खोज में लग गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि जापान के अणुबम विध्वंस का परिणाम देखकर भी शक्ति का एक मात्र केंद्र अणुबम बन गया और छोटे-छोटे देश तक आणविक अस्त्र की होड़ में लग गए। अन्न

हार गया, अणु जीत गया। भूख मार दी गई, भय पैदा कर दिया गया, शांति केवल वार्ता में कैद हो गई और शांति के नाम पर गोरिल्ला युद्ध की तरह आतंकवाद और नक्सलवाद का नया सामाजिक युद्धवाद पैदा हुआ। बीसवीं सदी के युद्ध तो युद्ध थे, मगर बीसवीं सदी के अंतिम दो-तीन दशकों से लेकर इक्कीसवीं सदी के युद्ध, अब युद्ध न कहलाकर आतंकवाद और नक्सलवाद, माओवाद और संप्रदायवाद कहलाने लगे हैं। युद्ध सैन्यशक्ति की आजमाइश से, आतंकवाद सामाजिक शक्ति का एक हिंसक संस्करण।

हिंदी के जो कुछ हिंदीवादी आलोचक हैं, वे अन्य भाषाओं और विशेषकर अंग्रेजी साहित्य और भाषा को अछूत मानते हैं। वे अपने अन्य भाषाओं के अपरिचय से उपजे अज्ञान को परंपरा का नाम देकर परंपरावादी या अतीतवादी हो गए हैं, जबकि यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसे आलोचकों का भी भारतीय शास्त्रों या साहित्यिक परंपरा का ज्ञान ऐसा हो जो हमारे समय में भी स्व. आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी, कमलेशदत्त त्रिपाठी, राधावल्लभ त्रिपाठी, गोविंदचंद्र पांडेय, यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ, रमेशचंद्र शाह आदि के समकक्ष हो। जो अर्वागार्द आलोचना के नाम पर भाषा का तेज दिखाते हैं, उनमें से बहुत कम हैं, जो अब उत्तर आधुनिकता के नए हस्तक्षेपों से सही ढंग से परिचित हों। आलोचना का व्यावहारिक पक्ष कुछ हद तक प्रभाकर श्रोत्रिय ने अपनाया, कृष्णदत्त पालीवाल ने भारतीय और उत्तर आधुनिक का समन्वय किया, लेकिन अन्य आलोचक तो आज भी मौलिकता के नाम पर अपना आलोचनात्मक अहंकार ही व्यक्त कर रहे हैं।

साहित्यिक आलोचना, रचना की आलोचना होती है, वाद की इसलिए नहीं कि वाद का मंच राजनीति है, अखबार हैं, जो विचारधारा से संबद्ध या प्रतिबद्ध होते हैं। साहित्य तो कला है, शब्द की अर्थमय कला, शब्द के सौंदर्य की कला, शब्द के संवेदन की कला और शब्द की आंतरिक शक्ति को अभिव्यक्त करने की आस्वादात्मक कला। इसे कलावाद के नजरिए से न देखा जाकर कला के रूप में ठीक उसी तरह देखना होगा, जिस प्रकार हम पेंटिंग या मूर्ति शिल्प को देखते हैं या संगीत को सुनते हैं। पेंटिंग चाहे भारतीय हो या विदेशी, उसके अंदर देशकाल सब तिरोहित होकर कला बन जाते हैं। संगीत चाहे शास्त्रीय हो या सुगम, कंठ्य या वाद्य, वह रस में निष्पन्न या संपन्न होता है, न कि किसी विचारधारा में। ईश्वर अल्ला के नाम पर गाए जाने वाले भक्ति या सूफी संगीत में तो ईश्वर अल्ला को कोई नहीं सुनता, न मजहब या धर्म को सुनता, न देवी-देवताओं को सुनता, बल्कि जो भी सुना जाता है, वह श्रोता और गायक की रस-संज्ञा का संगीत में, रस में, माधुर्य में, आनंद में विलीन हो जाना है अर्थात् संगीत स्वयं ईश्वरीय हो जाता है, धर्म या अध्यात्म हो जाता है। वह मात्र ध्वनियों और रागों का संयोजन नहीं है बल्कि वह मनुष्य में निहित अंतर्ध्वनियों का प्रत्यक्षीकरण है। यही वजह है कि जेज या पॉप हो, मोजार्ट या बीथोवन की सिम्फनी

हो, लोक-संगीत हो या शास्त्रीय, सब अपने देश-काल की पहचान संगीत में विलीन कर देते हैं।

आलोचना का स्वभाव भी रचनात्मक होता है। वह वस्तुनिष्ठ हो या व्यक्तिनिष्ठ, वह भाव-पक्ष, कला-पक्ष, भाषा-पक्ष के साथ लोकमंगल एवं साधारणीकरण जैसे तत्त्वों का भी विवेचन है। यदि यहाँ हम काव्यशास्त्र के मानदंडों के साथ प्लेटो या अरस्तु से लेकर पश्चिम के अधुनातन आलोचकों या उत्तर आधुनिकता के पाठवादी विचारकों की भी चर्चा करें तो यह जरूरी है कि हम रचना को अपनी पसंद-नापसंद का आधार न बनाएँ। वह आलोचना न होकर एक प्रकार का ओपिनियन मैकिंग कहलाएगा, आलोचना नहीं। आलोचना रचना के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तंतुओं को खोजती है भाषा में, शिल्प में, विचार में और उसकी समग्र निष्पन्नता में। अब जो रीडर्स रिस्पांस का सिद्धांत दिया जाता है, उसका भी अर्थ मात्र प्रतिक्रिया नहीं है, क्योंकि रचना यदि पाठ है तो पाठ स्वयं आलोचना-संपृक्त होता है और पाठ का पाठक जो रचना का अपना पाठ रचता है, वह मात्र सामान्य रीडर या पाठक नहीं होता, बल्कि वह रचनाकार पाठक होता है, जो आलोचनात्मक पाठ का सृजन करता है।

हिंदी आलोचना यदि अपने श्रेष्ठतम स्तर तक नहीं पहुँच पाई तो इसका एक बड़ा कारण है, आलोचकों का अहंकार और रचना के फलक को आलोचना के फलक तक पाने के हुनर की कमी। जिस प्रकार रामविलास शर्मा ने केदारनाथ अग्रवाल को आलोचना के फलक पर रखकर मार्क्सवादी धारा का उन्हें एक महत्त्वपूर्ण कवि बना दिया, वैसा आलोचक तो न मुक्तिबोध को मिला, न अज्ञेय को। हम अपने सांस्कृतिक बोध से कितने भी संपृक्त हों, कट्टरता की हद तक भी, लेकिन प्रश्न यह है कि संस्कृत काव्य को छोड़ दें तो कितने आलोचक ऐसे हैं, जिन्होंने ध्वनि सिद्धांत, रस सिद्धांत, अलंकार सिद्धांत, भाषिक सिद्धांत आदि के आधार पर हमारे साहित्य का तटस्थ मूल्यांकन किया है? आधुनिकता के नाम पर वे न तो ठीक से कलावादी बन पाए न मार्क्सवादी। मार्क्सवादी आलोचना ने प्रगतिशील साहित्य को काफी हद तक खँगाला, उसे प्रतिष्ठित भी किया और नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल जैसे कवि, प्रेमचंद, रेणु, यशपाल जैसे कथाकार यदि आलोचकीय प्रतिष्ठा पा सके तो यह मार्क्सवाद की साहित्यिक सफलता कही जाएगी, लेकिन जिस समाजवादी सौंदर्यशास्त्र के साथ विजयदेव नारायण साही ने आलोचना में हस्तक्षेप किया था, उसे मार्क्सवादी यदि अपना लेते तो शिवकुमार मिश्र, विश्वनाथ त्रिपाठी, निर्मला जैन, मैनेजर पांडेय, नंदकिशोर नवल, पुरुषोत्तम अग्रवाल आदि में वह संभावना थी, जो वाद-निरपेक्ष आलोचना से हिंदी साहित्य की लोक प्रतिष्ठा भी कर सकते थे। वाद-निरपेक्ष न हो पाने के कारण साहित्य का विभाजन केवल कलावाद और मार्क्सवाद तक ही सीमित होकर रह गया।

हम पश्चिम की भर्त्सना की हद तक अवमानना करें, लेकिन क्या हिंदी का आलोचक रोलान् बार्थ की तरह यह कह सका कि लेखक की मृत्यु हो गई है अर्थात्

लेखक रचना में विलीन हो गया है, इसलिए रचना सामने है; न कि लेखक। क्या ल्यूकाच या सूजन सांटेग की तरह हम यह कह सके कि व्याख्या के विरुद्ध हमें रचना को पाठ बनाना होगा या रोटी की तरह यह कह सके कि रचना भाषा का खेल है। जिस डिक्ट्रिक्शन या विनिर्माण का तर्क लेकर देरिदा आए, इतिहास की मृत्यु के साथ फूको और फूकोयामा आए, यहाँ तक कि जिस साहस के साथ मलार्मे और पॉल वेलेरी से आगे का रचना मूल्यांकन लेकर पश्चिम के मार्क्सवादी स्पेंडर और जेम्सन जैसे आलोचक आए, उस प्रकार के हस्तक्षेप हिंदी में न तो परंपरा के नाम पर रचे गए और न आधुनिकता के नाम पर। यदि हम कुछ भी मौलिक न कर सके और पश्चिम हो या लातीनी अमेरिका ये ही हमारे आलोचना बोध पर हावी हों तो फिर यह करुण क्रंदन क्यों कि हमारी संस्कृति और परंपरा की उपेक्षा हो रही है और पश्चिमी मानसिकता हमें बौद्धिक गुलामी की ओर ले जा रही है? क्रिटिकल थियरी और डायलेक्टिकल मटीरियोलिज्म ने बहुत हद तक समय, साहित्य और बौद्धिक वर्ग को प्रभावित किया और आज भी वह जारी है, क्या वैसा कोई क्रिटिकल विजन हमने अपनी आलोचना को दिया?

हम उत्तर आधुनिकता की कोख से पैदा हुए शब्द भूमंडलीकरण और बाजारवाद से डरे-डरे लग रहे हैं, मगर उत्तर आधुनिकता ने फार्मेलिज्म, इमोशनल रितीज जैसे शब्दों से आगे नई शब्दावली का जखीरा खड़ा कर दिया। कोलाज, डायलागिज्म, डायस्पोरा, एपिस्टिमालाजी, जेंडर पेरॉडी, जिनोसेंद्रलिज्म (स्त्री केंद्रित) हरमेनितिक्स अर्थात् 'धर्मशास्त्र के पाठ की व्याख्या से आगे भाषिक व्याख्या और दर्शन का समन्वय' इंटर सेक्सचुएलिटी, लिविडिनल इकोनॉमी, पाठ की आकांक्षा मेटा क्रिटिसिज्म, नरेटोलजी, आब्जेक्टिफिकेशन, पेराडी, आदि अनेक नए शब्द आलोचना की भाषा को दिए, जैसे हिंदी आलोचना में कितने नए शब्द रचे गए? मनोविश्लेषणात्मक आलोचना, जो कार्ल युंग के साथ शुरू हुई थी, उसे पश्चिम आगे ले गया और बारकन ने डायलॉगिक आलोचना (संवादात्मक) का सूत्रपात किया, फिर शिकागो स्कूल बना, जिसने अरस्तु के रेटरिक और पोएटिक्स को टैक्सट के रूप में विश्लेषित किया। चिकानो चिकाना अध्ययन प्रणाली भी आई, जिसने मेक्सिकन, क्यूबन, डोमिनिकन, प्यूरटोरिको आदि के स्पेनिश साहित्य में स्त्री-पुरुष रचना और अन्य विविधताओं के साथ हस्तक्षेप किया।

यदि हमें पश्चिम को नकारकर अपनी अस्मिता रचनी है तो केवल बड़बोलेपन की भारतीयता का सांस्कृतिक जाप करने के बजाय बौद्धिकता के नए धरातल खोजने होंगे। यदि पश्चिम अनेक सिद्धांतों की सीमाओं से आगे जाकर 'पाठ' में अपनी आलोचना का केंद्र खोज लेता है तो वह मार्क्सवाद, उत्तर मार्क्सवाद, संरचनावाद, उत्तर संरचनावाद, आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता, भाषा और भाषायी विनिर्मिति आदि विचारों के साथ आलोचना को विमर्श मूलक बना रहा है। हम भी तो अब उनके साथ शामिल हो गए हैं, फिर हमें अपनेपन का विलाप क्यों?

यदि हिंदी की साहित्यिक आलोचना को पश्चिम से टकराना है या अपनी उत्कृष्टता साबित करनी है तो उसे विश्वविद्यालयी, शोध के तरीके बदलने होंगे, अध्ययन, अध्यापन की प्रणाली बदलकर उसे अधिक कल्पनाशील और वस्तुपरक बनानी होगी और आज जब हम इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से सारी दुनिया को कंप्यूटर नेट पर पढ़ सकते हैं तो पढ़कर हमें अपने ज्ञान, अनुभव और सर्जनात्मक स्वभाव को विस्तार देना होगा। हिंदी आलोचना की आधुनिकता यदि प्लेटो, अरस्तु, लांजायनस, होरेस, सिडने, ऑरनोल्ड, एलियट आदि से देरिदा, बेंजामिन जैम्सन आदि तक सीमित होकर आलोचना कर्म करती रहेगी तो वह तो पश्चिम की नकल ही होगी, मौलिकता के नाम पर निरी वाग्मिता या रेटरिक होगा। हमें अपने इस स्वभावगत रेटरिक से मुक्त होकर सृजन में ध्यानमग्न होकर डूबना होगा, साहित्य का अध्यात्म ही है साहित्य में डूबना, तभी जाकर उत्कृष्ट आलोचना का भी उदय होगा। पश्चिम यदि हमारे लिए प्रासंगिक नहीं है तो हमें अपने प्रसंगों की खोज करनी होगी, क्योंकि संदर्भ और प्रसंगों में हम पश्चिम से किसी भी तरह कम या पीछे नहीं हैं। हिन्दी आलोचक को संकीर्ण मनोवृत्तियों और अहंकार से मुक्त होना होगा; वाद-प्रदत्त बौद्धिकता से मुक्त होना होगा; अपनी आत्म-मुग्धता त्यागनी होगी; अन्य के छोटे-से-छोटे कार्य को भी स्वीकार कर उसके प्रति उदार होना होगा और एक सर्जक के लिए ऐसे रास्ते तैयार करने होंगे, जिन पर चलकर वह अपनी श्रेष्ठता की मंजिल तय कर सके। आलोचना से सर्जक और पाठक दोनों बनते हैं और यह काम हिंदी आलोचना का वर्तमान ठीक से नहीं कर पा रहा है।

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ :

पुस्तकें:

मानसिक स्वास्थ्य एवं आधुनिक जीवन, डॉ. वरुण कुमार तिवारी; प्रकाशक : नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002; प्रथम संस्करण : 2013; पृष्ठ : 108; मूल्य : 250/ रुपये।

हरेराम 'समीप', व्यक्ति और अभिव्यक्ति, डॉ. वरुण कुमार तिवारी; प्रकाशक : नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002; प्रथम संस्करण : 2009; पृष्ठ : 210; मूल्य : 300/ रुपये।

हिंदी समीक्षा : भ्रान्त धारणाएँ

नरेन्द्र कोहली*

जमशेदपुर में कॉलेज का छात्र था, तो कहानियाँ तब भी लिखता था। हमारे साथी और अध्यापक परस्पर एक-दूसरे की रचनाएँ सुनते थे और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते थे। ऐसा नहीं था कि वे रचनाओं के दोष नहीं बताते थे, किंतु उनसे रचनाओं का सुधार होता था और लेखक का विकास होता था। एम. ए. की पढ़ाई के लिए दिल्ली आया तो ऐसे सहपाठियों में घिर गया, जिनका विचार था कि मैं बहुत सीधी-सादी कहानियाँ लिखता हूँ। मेरे उन सहपाठियों की कहानियाँ (यदि वे कहानियाँ थीं तो) बहुत उलझी हुई होती थीं। एक लड़की है, जो काम-भावना से इस सीमा तक पीड़ित है कि वह समागम के लिए फुटपाथ से एक लड़का उठा लाती है। लड़का भूख से तड़प रहा है। लड़की उसे अपनी सेज पर बुलाती है और लड़का मेज पर पड़े सेब की ओर लपकता है। लड़की उसका शरीर चाहती है और लड़का मेज पर रखा सेब चाहता है।

मेरे लेखक मित्रों की दृष्टि से यह संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानी थी। उसमें भूख का महत्त्व स्थापित किया गया था। संसार का सारा मार्क्सवाद उसमें आ जाता था। उन्होंने न कभी वैसी लड़की देखी थी, जो सड़क से एक भूखे लड़के को पकड़ कर अपनी सेज पर घसीट ले जाती है, और न कभी वह लड़का देखा था, जो भूखा प्यासा सड़क पर भटक रहा था और फिर निर्वस्त्र लड़की को सेज पर लेटी छोड़कर, बदले में मेज पर रखा सेब खाने लगता है। फिर भी उन्होंने वह कहानी लिख मारी और उसे संसार का महान् साहित्य माना।

मैं तब भी समझता था कि वह एक विचारधारा का प्रचार करने वाला अंधा विज्ञापन था और आज भी वही मानता हूँ। न उन्होंने समाज को देखा, न जीवन को। वर्ग-सिद्धांत के पुजारी ने कभी समाज के उस वर्ग को नहीं देखा, जहाँ लड़कियाँ इस सीमा तक काम-पिपासु होती हैं, और लड़के इस सीमा तक पेट की भूख से तड़प रहे होते हैं। हमारे विश्व विद्यालय में तो वे लड़के थे, जो अपनी कक्षा और आस-पास की

* 175, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-110034

लड़कियों से बात करने को तरस रहे थे। उनके साथ पाँच मिनट बिताने के लिए अपने कपड़े बेच कर भी उन्हें चाय पिलाने को तैयार थे।... और कहानी वे लिख रहा थे, उस लड़के की, जो निर्वस्त्र लड़की को सेज पर छोड़ कर सेब की ओर लपक रहा था। समाज को समझने का प्रयत्न वहाँ था ही नहीं। वायवीय विचारों से कहानियाँ बुनने का प्रयत्न मात्र था, और उसी के आधार पर साहित्य को परखने के मानक बनाए जा रहे थे।

उन्होंने मेरी कहानियाँ पसंद नहीं थीं। शायद मैं भी पसंद नहीं था। उसका कारण मैं नहीं था। हमारी सहपाठिन शशि थी। जिस समय मुझे कहानी पढ़नी होती थी, वह अपनी दस-पाँच सखियों को बुला कर गोष्ठी में बैठा लेती थी। मेरे साहित्य-सर्जक मित्रों की बाछें खिल जाती थीं। आज वे उन सुंदरियों को अपनी रचनाएँ सुनाएंगे।... पर यह क्या। मेरी कहानी पूरी हुई और शशि ने अपनी सखियों को संकेत कर दिया। वे सब उठ कर चल दीं। महान् साहित्यकार बैठे के बैठे रह गए, जैसे सेज पर बैठी किसी सुहागिन को उसका पति छोड़ गया हो। उनकी सीने की जलन और जिह्वा की खलिश मेरी कहानी पर उतरती थी। हाय रे सौतिया ढाह। और उसे वे समीक्षा कहते थे।

दूसरी ओर वह कवि था, जो अपनी डायरी में शिश्न के चित्र बनाने वाले लड़के के आस-पास कविताएँ लिख रहा था। उसके अनुसार वही शाश्वत कविता थी। अक्षरों को ऊपर-नीचे लिख कर उनसे कुर्सी मेज की आकृति बना रहा था, और कविता के एक नए युग के सूत्रपात की घोषणा कर रहा था। वह मुझे प्रायः अपने पाठ्यक्रम से ध्यान हटा कर साहित्यिक सृजन को गंभीरता से ग्रहण करने का उपदेश दिया करता था।

मुझे अपनी कहानियों पर उन लोगों की टिप्पणियाँ पसंद तो नहीं आती थीं, किंतु उनकी प्रशंसा पाने के लिए मैं स्वयं को और अपने सृजन को बदलने को तैयार नहीं था। सृजन को भी क्या कभी कोई बदल सका है? मैं ही कैसे बदल सकता था। अपने परिवेश से परेशान होकर खिन्न मन से मैंने उन दिनों 'पांच एक्सहर्ड उपन्यास' की रचना की थी। उसे बाद में व्यंग्य के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग माना गया और व्यंग्य साहित्य की उपलब्धि कहा गया। 'कार्दबिनी' में उसकी समीक्षा आई। एक अध्यापिका ने लिखी थी, जिन्हें व्यंग्य के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं थी। उन्होंने लिखा कि ऊटपटांग शब्दों को एकत्रित कर देने से व्यंग्य नहीं बन जाता। लेखक को पहले व्यंग्य विधा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। मैं समझ गया कि वे व्यंग्य को नहीं पकड़ पाई। उसका महत्त्व मान कर उसे हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय में पाठ्यक्रम में लगा दिया गया। तीन वर्षों के लिए। अति उत्साह के कारण उसे बी.ए. पास कोर्स के पाठ्यक्रम में निर्धारित किया गया। पहले वर्ष मेरे पास माँग आती रही कि मैं उसकी एक कुंजी लिख दूँ, अध्यापकों को पढ़ाने में कठिनाई हो रही है। भला मैं ऐसा अपमानजनक प्रस्ताव कैसे स्वीकार कर सकता था। मैंने उस दिशा में अपना

पग नहीं बढ़ाया। परिणाम यह हुआ कि उस पुस्तक को एक ही वर्ष में पाठ्यक्रम से हटा दिया गया। अध्यापकों में जो आलोचना शक्ति थी, वह उसका तेज सहन नहीं कर पाई। मैं लिख रहा था कि एक व्यक्ति बस से ऐसे चिपक गया, जैसे दीवार से चिपकी छिपकली। अब हिमाचल के अध्यापक को यदि दिल्ली की बस सेवा का हाल नहीं मालूम तो वह तो इस उदाहरण को समझने के लिए, कुंजी माँगेगा ही। कुंजी नहीं मिली। उसकी दृष्टि से पुस्तक उतर गई। अतः वह पाठ्यक्रम के योग्य नहीं मानी गई। वहाँ से हटा दी गई।

मैं अपने स्वभाव के प्रवाह में बहता-बहता राम-कथा पर अपना उपन्यास 'अभ्युदय' लिख बैठा। अभी पहला खंड 'दीक्षा' ही लिखा था कि महानतम पंडित ने दो बातें कहीं, 'तलवार की धार पर चल रहे हो। संभाल नहीं पाओगे।' दूसरी बात कही, "इतने बड़े चरित्रों को लेकर उपन्यास लिखना संभव नहीं है। छोटे चरित्रों के माध्यम से उन्हें प्रस्तुत किया जाता है।" मैं क्या कहता अरे जब मैंने उपन्यास लिख ही दिया, तो वे कैसे कह सकते थे कि उपन्यास लिखा नहीं जा सकता। उनसे नहीं लिखा गया, यह बात और थी। किंतु उन्होंने तो काव्य शास्त्र का सिद्धांत बना दिया कि महान् चरित्रों को लेकर उपन्यास नहीं लिखा जा सकता और मैं आज तक समझ नहीं पाया कि किसी लेखक की असमर्थता को काव्यशास्त्र का नियम कैसे माना जा सकता है। एक दूसरे मित्र मिले। बोले, "जिसे रामकथा पढ़नी होगी, वह तुलसीदास को पढ़ेगा और जिसे उपन्यास पढ़ना होगा, वह प्रेमचंद को पढ़ेगा। रामकथा पर लिखा गया, तुम्हारा उपन्यास कोई क्यों पढ़ेगा। इन तिलों में तेल नहीं है। व्यर्थ परिश्रम मत करो। समय नष्ट करना कोई लाभदायक प्रस्ताव नहीं है।" मैंने सुन लिया और सोचता रहा कि जो तिल उन्होंने पेरें हैं, उनमें से कितना तेल निकाल लिया। किंतु उनका सिद्धांत था कि जो साहित्यकार या पत्रकार मार्क्स के मार्ग पर नहीं चलता, वह साहित्यकार या पत्रकार हो ही नहीं सकता। वे एक मार्ग पर चल रहे थे और अन्य लेखकों की आत्मा की रक्षा करने के लिए, पादरियों के समान प्रभु से प्रार्थना कर रहे थे। मनहर चौहान के प्रयत्न से पहली गोष्ठी ग्वालियर में हुई। नगर के सब से बड़े समीक्षक को बुलाया गया। वे बोले, "इस युग में रामकथा लिखने वाला लेखक सांप्रदायिक और साम्राज्यवादी सोच का प्रचार कर रहा है। वह स्त्रियों और दलितों के विरोध में साहित्य रच रहा है। हमें इस साहित्य की आवश्यकता नहीं है। मैं नरेन्द्रो कोहली का समर्थन नहीं कर सकता।" वे और भी बहुत कुछ बोले और बोल कर ताव में उठ कर चले गए।

लोगों ने मुझसे कहा कि मैं उनके तर्कों का उत्तर दूँ। मैं उस व्यक्ति को क्या उत्तर देता, जो उत्तर सुनने के लिए रुका ही नहीं। मैंने इतना ही कहा कि मैं लिखित रूप में शपथपूर्वक कह सकता हूँ कि उन्होंने मेरी पुस्तक पढ़ी ही नहीं। जो कुछ उन्होंने कहा, वह उनके मन का विष था। वह वक्तव्य न मेरे विषय में था, न मेरी पुस्तक के विषय में और न रामकथा के विषय में।

तभी एक मित्र ने एक समाचारपत्र की कतरन भेजी, जिसमें एक समाचार छपा था कि हिंदी साहित्य, के एक बड़े मठाधीश ने मेरा नाम लिए बिना कहा है कि दिल्ली के एक लेखक ने एक उपन्यास लिखा है, जिसमें राम अपने गुरु विश्वामित्र से ऐसे दीक्षा ले रहे हैं, जैसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कोई स्वयंसेवक संघ सचालक से दीक्षा लेता है।

मुझे मालूम नहीं था और आज तक मालूम नहीं है कि कोई स्वयंसेवक, सरसंघ चालक से कैसे दीक्षा लेता है। अथवा कोई भी शिष्य अपने गुरु से कैसे दीक्षा लेता है। मैंने दीक्षांत समारोह में कुलपति से अपनी उपाधि तो ली है, और किसी गुरु से कभी दीक्षा नहीं ली। वे आलोचक मुझ से कहीं बेहतर ढंग से दीक्षा लेने की प्रक्रिया को जानते हैं, क्योंकि वे दीक्षित थे और हैं। किंतु किसी पुस्तक की न्यायपूर्वक समीक्षा करनी उन्हें आज तक नहीं आई। फतवे उन्होंने चाहे कितने ही दिए हों।...जब मैं उनके इस फतवे से उद्विग्न घूम रहा था मुझे विश्वविद्यालय में भीष्म साहनी मिल गए। मिले, क्योंकि मुझे पता था कि वे उस गोष्ठी में आने वाले हैं। मैं अपने साथ 'अभ्युदय' के सारे खंडों का एक सेट ले कर गया था। अवसर मिलते ही मैंने उनसे उनके उस फतवेबाज मित्र की शिकायत की और पुस्तकों का सेट उन्हें पकड़ा दिया, "आप स्वयं इसे पढ़ें और मुझे बताएँ कि आपके उस मित्र के फतवे का सत्य क्या है।" वे अपने मधुर ढंग से हँसे और बोले, "कह नहीं सकता कि वे ऐसी बातें क्यों करते हैं।" भीष्म जी के साथ ही एक स्वनामधन्य, लेखिका भी खड़ी थीं। बोलीं, "मैं भी इस पुस्तक को पढ़ना चाहती हूँ किंतु यह पढ़ी ही नहीं जाती।" मैं भी उसी प्रकार तड़क कर बोला, "आपकी पुस्तकें किसी से पढ़ी जाती हैं।" मेरे तेवर देख कर वे चुप लगा गईं।

'संघर्ष की ओर' का प्रकाशन हुआ तो 'सारिका' में उसकी एक लंबी समीक्षा छपी। समीक्षक मेरे परिचित थे। विश्वविद्यालय में पढ़ाते थे इसलिए रोज के मिलने वाले थे। जब चाहते पुस्तक के विषय में मुझसे बात कर सकते थे। किंतु उन्होंने कभी बात नहीं की। समीक्षा लिखी और छपवा दी। उसमें कहा कि लगता ही नहीं कि यह राम-कथा है। ऐसा लगता है कि आदिवासियों को सैनिक प्रशिक्षण दिया जा रहा है।

मंतव्य यह था कि ऐसा नहीं होना चाहिए था। मैं लिख रहा था कि राक्षसों द्वारा पीड़ित लोगों को एकत्रित कर राम उनको संगठित कर रहे थे, ताकि वे राक्षसी आतंक से अपनी रक्षा कर सकें। किंतु समीक्षक महोदय ऐसा नहीं चाहते थे, अतः वह रचना निन्दनीय हो गई। वे राम-कथा को अपने ढंग से लिखना चाहते थे। उसमें मुझे कोई आपत्ति भी नहीं थी। किंतु मैं चाहता था कि अपने मन की राम-कथा को वे स्वयं लिखें और मुझे अपने मन की बात लिखने दें। वे चाहते थे कि लिखूँ तो मैं किंतु उनके मन की लिखूँ।

मुझे वह सारी समीक्षा नासमझी की बात लगी, और प्रतिक्रियावश मैं एक नासमझी कर बैठा। मैंने पत्रिका के अनेक अंक खरीद लिए और उसमें से समीक्षा

निकाल कर अनेक लोगों को डाक से भेज दी। मेरी आपत्ति यह थी कि जिस किसी के भी हाथ में कलम हो, उसे इस प्रकार की तर्कशून्य बातें लिखने की स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिए। उसे रोका जाना चाहिए। सिवाय डॉ. धर्मवीर भारती के और किसी ने भी मेरे पत्र का उत्तर नहीं दिया। उन्होंने लिखा कि समीक्षा के क्षेत्र में इसी प्रकार की अराजकता है। मुझे अपने लिखने से काम रखना चाहिए, ऐसी समीक्षाओं की चिंता नहीं करनी चाहिए, वह तो अपनी मौत स्वयं मर जाएगी। मैं चाहता था कि जो भी समीक्षा हो, वह न्यायपूर्ण हो और यदि उसमें कोई द्वेष हो तो अन्य, विद्वानों द्वारा उसका विरोध हो। किंतु मेरी समझ में आ गया कि संसार न तो मेरी इच्छा से चलता है, न न्याय के नियमों से; संसार तो प्राकृतिक नियमों से चलता है और उनमें रजोगुण तथा तमोगुण का ही बाहुल्य है। तब से मेरा वह आग्रह समाप्त हो गया।

संयोग ऐसा हुआ कि मेरी रामकथा पर ही एक अन्य विद्वान् ने एक समीक्षा लिख दी। उसमें समझाया गया था कि मिथ क्या होती है, मिथक क्या होती है। उन्होंने अपना एक मिथकशास्त्र गढ़ डाला था और सिद्ध किया था कि उनकी अपनी एक रचना उस शास्त्र के अनुसार रची गई है और नरेन्द्र कोहली को मिथक का कोई ज्ञान नहीं है। अतः 'अभ्युदय' मिथकीय साहित्य में प्रवेश पाने योग्य नहीं है। मेरी तो ऐसी कोई कामना ही नहीं थी, अतः मैं उस समीक्षा को पढ़ कर शांतिपूर्वक सो गया। यह तो मुझे प्रातः ही पता लगा कि मेरा पुत्र कार्तिकेय उस समीक्षा से बहुत आहत हुआ था और उसने उस समीक्षा का उत्तर लिख कर पत्रिका के संपादक को भेज दिया था। संपादक ने अगले ही अंक में वह उत्तर प्रकाशित कर दिया और वे विद्वान् मुझ से रुष्ट हो गए। मैं मानता हूँ कि वे आज तक यही मानते होंगे कि मैंने स्वयं ही उनकी समीक्षा का उत्तर लिखकर अपने पुत्र के नाम से प्रकाशित करवा दिया है। वैसे उससे कोई अंतर तो पड़ता नहीं था। यदि मेरी रचना। उनकी परिभाषा के अनुसार मिथकीय नहीं थी, तो उससे रचना की गुणवत्ता पर तो कोई प्रभाव पड़ता नहीं था। मैं तो आज तक अपनी रचनाओं को 'पुराकथाएँ' अथवा 'प्रख्यात कथाएँ' कहता और मानता आया हूँ। मैंने कभी मिथ और मिथक जैसे शब्दों की पाश्चात्या परिभाषाओं की चिंता नहीं की।

मेरी मान्यता आज तक यही रही है कि मौलिक रचना का सृजन लेखक के मन में होता है। सृजन के पश्चात् ही यह देखा जा सकता है कि वह रचना कैसी है। उसकी उत्कृष्टता की कसौटी उसके अपने ही भीतर छिपी होती है। आलोचक का कार्य उस कसौटी को उद्घाटित करना ही होता है। जब कोई आलोचक अपनी किसी मान्य कसौटी के चौखटे में किसी रचना को कसने का प्रयत्न करता है तो वह एक प्रकार से उसकी हड्डियाँ तोड़ने का प्रयत्न ही करता है। एक संगीतकार को किसी पहलवान की कसौटी पर कसना उचित नहीं होता। वस्तुतः हमारे अनेक आलोचक अज्ञान, ईर्ष्या, द्वेष, पक्षपात ही नहीं सांस्कृतिक विरोध, राजनीतिक मदांधता के रोगों से ग्रस्त हैं। वे मानसिक दासता और हत्याकरी प्रवृत्तियों से जकड़े हुए हैं। इसलिए सृजन को सृजन के धरातल पर नहीं, किन्हीं अन्य धरातलों पर जाँचते-परखते हैं।

हिन्दी आलोचना : भ्रान्त धारणाओं से मुक्त होने की आहट

कैलाशचन्द्र पन्त*

सन् 2001 में हमारे समय के विख्यात आलोचक डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने एक साक्षात्कार में कहा था- “हिन्दी आलोचना की स्थिति बहुत ही अराजक और अविश्वसनीय होती जा रही है। आचार्य शुक्ल का लोक मंगल पीछे छूट चुका है। बड़े-बड़े आलोचक संकीर्ण और एक पक्षीय निष्कर्षों में चक्कर लगा रहे हैं” (मेरे साक्षात्कार, वि.प्र. तिवारी, पृ. 115)। इसी साक्षात्कार में आगे उन्होंने यह भी कहा- “मार्क्सवादी अनुशासन की चालू शब्दावली में लिखी आलोचना बहुत ही उबाऊ और घिसीपिटी लगती है। उपर्युक्त उल्लेखित वाक्यों में दो बड़े संकेत मिलते हैं। प्रथम तो यह कि हिन्दी आलोचना के शिखर पुरुष आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं जिनकी स्थापनाओं के इर्द-गिर्द परवर्ती हिन्दी आलोचना घूमती रही। यदि उसके समानान्तर आलोचना की वैकल्पिक पद्धति विकसित हुई है तो वह मार्क्सवादी आलोचना है।

आचार्य शुक्ल के पूर्व तक अर्थात् भारतेन्दु से लेकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तक हिन्दी आलोचना की आधार भूमि तैयार की गई। बाबू श्यायसुन्दर दास ने आलोचना के सैद्धांतिक पक्षों का विवेचन किया। उसमें मौलिकता नहीं थी और केवल अंग्रेजी साहित्य में आलोचना के जो सिद्धान्त थे उनकी प्रस्तुति थी। परन्तु साहित्य के विद्यार्थियों के लिये उनका महत्त्व अवश्य था। शुक्ल जी को भारतीय काव्य शास्त्र का अध्ययन तो था ही, वे पश्चिमी साहित्य के मानदण्डों को भी आत्मसात कर चुके थे। इसीलिये वे हिन्दी आलोचना को लोकमंगल जैसा सर्वथा मौलिक शब्द दे सके। भारतीय परम्परा की उनकी समझ का अनुमान विरूद्धों के बीच सामजस्यों जैसी पदावली से हो जाता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने शुक्ल जी के संबंध में लिखा था- “शुक्ल जी ने हमारे साहित्यिक अनुशीलनों को नई दृष्टि दी। उनकी दृष्टि पूर्णतः सांस्कृतिक और शालीन थी। वे शक्ति, शील और सौन्दर्य के उपासक थे।” (नन्ददुलारे वाजपेयी रचनावली : पृष्ठ 180)

*9/35 सह्याद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल

हिन्दी आलोचना के बुनियादी सिद्धान्त यही तत्त्व हैं जिन्हें अचार्य शुक्ल ने बहुत दृढ़ता के साथ स्थापित किया था। साहित्य को परखने की कसौटी भारतीय ही होनी चाहिये यह दृष्टि है लोक मंगल। इसके लिये आवश्यक तत्त्व है विरूद्धों का सामंजस्य। समन्वयवादी दृष्टिकोण ने ही भारतीय संस्कृति और साहित्य को शिखर तक पहुँचाया। साथ ही शील, शक्ति और सौन्दर्य साहित्य की कसौटी हो सकते हैं। ये तीन शब्द मात्र शब्द नहीं हैं, एक समूची संस्कृति को परिभाषित करने वाली पदावली हैं। इसी पदावली के सहारे आचार्य शुक्ल तुलसीदास के साहित्यिक अवदान को प्रतिष्ठापित कर सके थे। परवर्ती आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने तुलसी के काव्य की महत्ता को विवेचित करने में जिस जनवादी पदावली का उपयोग किया उसमें भी परोक्ष रूप से लोकमंगल ध्वनित होता रहा है।

शुक्ल जी के ही समकालीन बाबू गुलाबराय थे। उनकी आलोचना शैली में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष दोनों हैं। साथ ही उन्होंने वैज्ञानिक विश्लेषण की पद्धति हिन्दी आलोचना को दी। आगे चलकर इसी मनोवैज्ञानिक आलोचना का स्वरूप डॉ. देवराज ने विकसित किया। हिन्दी आलोचना-शास्त्र खड़ा करने में भारतेन्दु मंडली के बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पं. विश्वनाथ मिश्र, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. गुलाबराय, डॉ. देवराज, पदुमलाल पुत्रलाल बख्शी जैसे अनेक विद्वानों की भूमिका रही। लेकिन पं. रामचन्द्र शुक्ल ने आचार्य परंपरा की जिस तेजस्विता के साथ साहित्य आलोचना की कसौटियाँ प्रस्तुत की वे अप्रतिम हैं। यही कारण है कि हिन्दी आलोचना आज तक उनके इर्द-गिर्द ही घूमती रही। इस परम्परा के दूसरे आलोचक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी हैं। छायावादी काव्यधारा को हिन्दी साहित्य की यात्रा का महत्त्वपूर्ण पड़ाव सिद्ध करते हुए आचार्य वाजपेयी ने पन्त, प्रसाद, निराला की त्रयी के ऐतिहासिक अवदान को प्रतिष्ठित किया। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि उनके पूर्ववर्ती आलोचक छायावाद के महत्त्व को नकारते और उसे पश्चिमी साहित्य के रोमान्टिसिज्म की अनुकृति सिद्ध करते रहे थे। आधुनिक काल के समीक्षकों को अपनी दृष्टि संशोधित करने का जो रास्ता वाजपेयी जी ने सुझाया उसी का परिणाम है कि छायावाद और विशेष कर कामायनी की पुनर्व्याख्या संभव हुई।

आचार्य वाजपेयी की भूमिका ने लम्बे समय तक हिन्दी साहित्य जगत को साहित्य की नई उद्भावनाओं और भारतीय परंपराओं के समन्वयात्मक स्वरूप से परिचित कराया। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि यह कार्य ऐसे समय में किया गया जब मार्क्स की विचारधारा राजनीति के साथ ही हिन्दी साहित्य को प्रभावित कर रही थी। डॉ. रामविलास शर्मा मार्क्सवादी आलोचना के अग्रणी विद्वान थे। उनकी आलोचना दृष्टि से भारत की सांस्कृतिक अस्मिता लुप्त नहीं होती। लेकिन अन्य मार्क्सवादी आलोचक पूरी तरह साहित्य में राजनीतिक अभियानकर्ता बन गये। उनका प्रयास रहा कि साहित्य की सांस्कृतिक धारा जन सामान्य की स्मृति से समाप्त हो जाय। उनके बाद डॉ. शिवदान सिंह चौहान, डॉ. नामवर सिंह और डॉ. शिवकुमार मिश्र, डॉ. विश्वंभर नाथ उपाध्याय जैसे आलोचक हिन्दी में आये। लेकिन

समय के साथ मार्क्सवादी आलोचना हाशिये पर पहुँच गई। फिर भी यह सच है कि मार्क्सवादी आलोचना ने पचास वर्षों तक हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया। सच यह भी है कि हिन्दी के प्रतिभा संपन्न लेखकों और कवियों को सामान्य पाठकों की दृष्टि-पटल से दूर रखने में मार्क्सवादी आलोचक कुछ सीमा तक सफल रहे।

इस बात पर गहरे विमर्श की आवश्यकता है कि साहित्य-जगत पर अपना वर्चस्व बना लेने के बाद मार्क्सवादी लेखक और आलोचना पच्चीस वर्ष की अवधि में हाशिये पर क्यों कर चली गई। साहित्य में विचारधारा का प्रबल आग्रह रखने वाले मार्क्सवादी आलोचक डॉ. विश्वनाथ तिवारी के इस कथन से सहमत नहीं होंगे कि “साहित्य का केन्द्र संवेदना है, विचारधारा नहीं।... संवेदना से ही विचारधारा पैदा होती है, मगर विचारधारा से संवेदना पैदा नहीं होती।” (*आलोचना के हाशिये पर* : पृ.8) अपने इस कथन को ज्यादा स्पष्ट करते हुए *राज्य, धर्म, विचारधारा और साहित्य* में डॉ. विश्वनाथ तिवारी ने लिखा- “रचना की शक्ति सत्य की शक्ति होती है। यही नैतिक शक्ति है। सबसे मजबूत। जो अकेले भी खड़ी हो सकती है और सत और असत् के संघर्ष में मनुष्यता को राह दिखा सकती है। उसे सामयिक और चिरन्तन प्रश्नों से रू-ब-रू कर सकती है। जो कुछ भी मूल्यवान है और मनुष्य के भीतर सो रहा है, उसे जगा सकती है।” यह शक्ति उसी रचनाकार में आकार ले सकेगी जो अपनी चेतना को स्वतंत्र रख पाता है। पार्टियों या विचारधाराओं के बाड़े में बन्दी लेखक से इसकी उम्मीद नहीं की जा सकती। हिन्दी साहित्य के प्रबुद्ध वर्ग ने जब देखा कि मार्क्सवादी आलोचना ने जिस लेखक या कृतिकार को युगान्तरकारी बताने की कोशिश की थी वे अल्प समय में ही अपनी चमक गँवा बैठे तो मार्क्सवादी आलोचना को भी सिरे से खारिज कर दिया। यद्यपि हिन्दी आलोचना के स्तर को व्यापकता देने में उसका भी योगदान है।

मार्क्सवादी लेखन ने अपने प्रारंभिक दिनों में युवा लेखकों को आकर्षित किया था। इसका एक मुख्य कारण कल्पनाशीलता की छाया में रहस्यात्मक अनुभूतियों के शब्द-चित्रों की अपेक्षा जीवन की गहरी सच्चाइयों का यथार्थ निरूपण था जिसमें परिवर्तन के लिये क्रांति अपेक्षित है। एक तरफ देश में स्वतंत्रता की इच्छा बलवती हो रही थी, तो दूसरी ओर समाज में व्याप्त विषमता का अनुभव भी किया जा रहा था। उपेक्षित वर्ग की आकांक्षाएँ भी जागने लगी थीं। ऐसे वातावरण में मार्क्सवाद की वर्ग-भेद की अवधारणा ने परिवर्तन की दिशा में एक आधार प्रदान किया था। अंग्रेजी शासन काल ने भारत के विद्या केन्द्रों को नष्ट कर भारतीयों की मानसिकता को पराधीन कर दिया था। ऐसी उर्वरा भूमि पर विदेशी अवधारणाओं के बीजों का रोपण करना सरल था। ऐसी स्थिति में यथार्थ के नाम पर समाज की उन कमजोरियों का उजागर कर दिखाया गया जो हमारे राजनीतिक पराभव की विवशताओं के बीच समाज में व्याप्त हो गई थी। यथार्थवाद की जिस भ्रान्त धारणा का प्रचलन समाज में किया या उसके प्रति जब स्वतंत्रचेता लेखकों का ध्यान गया तो भ्रान्ति का

कुहरा छूटने लगा। हमारे अपने समय के तेजस्वी लेखक अज्ञेय ने सबसे जोरदार दस्तक दी थी। उन्होंने लिखा-

“आज यथार्थ शब्द का संबंध अर्थ और अर्थवत्ता से बहुत कम रह गया है और स्थूल भौतिक तत्वों से ही वह बँध गया है- भौतिक वस्तु से, उससे हमारे सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले कार्य-कारणतत्व से। इस चिन्ताधारा की हमारे यहाँ कमी थी और उसका यहाँ प्रगट होना उपयोगी होता। लेकिन उसने क्रमशः और सभी चिन्ता-धाराओं को दबा दिया- और यह तर्क के बल पर उतना नहीं जितना आग्रह के बल पर। इससे हमारे चिन्तन जगत को गहरी क्षति पहुँची है और हमारा आलोचना साहित्य बहुत छिछला हो गया है। सतह और सतही संरचना का महत्त्व उस चिन्तन और आलोचना में बहुत अधिक है और भीतरी संरचना अथवा आभ्यन्तर सत्ता की कोई भी चर्चा संदिग्ध हो गई है- सिवाय भौतिक पदार्थ की ही आभ्यांतरिक संरचना के।” (अज्ञेय: *जोग लिखी* : पृ. 28)

अज्ञेय वस्तुतः ऐसे बौद्धिक रचनाकार थे जिनकी भारतीय और विदेशी चिन्तन धाराओं की समझ का लोहा एक पूरी पीढ़ी को मानना पड़ा और हिन्दी आलोचना ने नई करवट ली। उनके तर्क अकाट्य होते थे। इसका परिणाम हमें पचास के दशक में साफ दिखाई दिया। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अज्ञेय के यथार्थ चिन्तन को न केवल उनके निबंधों से बल्कि उनके साहित्य के गहरे अध्ययन से समझते हुए ही लिखा था-

“अज्ञेय के काव्य में मानवीय व्यक्तित्व को या कि समूची सृष्टि को ही एक नये अनपेक्षाकृत गैर-रोमांटिक ढंग से देखने की शुरुआत मिलती है जिसमें आग्रह परंपरागत राग पर उतना नहीं जितना कि यथार्थ को सही ढंग से समझने पर है। उपन्यासों में मानवीय व्यक्तित्व की परिपूर्णता की ओर क्रमिक यात्रा लेखक की चिन्तना का केन्द्रीय तत्व है। और इस प्रकार कविता तथा उपन्यास मिलकर व्यक्तित्व का, और इसलिये अन्ततः यथार्थ का भी एक समग्रतर चित्र उपस्थित करते हैं।” (*अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या* : रामस्वरूप चतुर्वेदी : पृ. 52)। मानवीय व्यक्तित्व की समग्रता की बात मार्क्सवादी आलोचना का सबसे बड़ा प्रतिरोधक तर्क है। मार्क्सवाद और मार्क्सवादी लेखन की इस एकांगिता से ही निराश होकर अज्ञेय, निर्मल वर्मा, नरेश मेहता, शमशेर जैसी प्रतिभाएँ उससे विमुख हुईं और अपना स्वतंत्र रास्ता चुना। अज्ञेय के प्रति वामपंथी लेखकों का जो आक्रोश-भाव निरन्तर बना रहा उसका मुख्य कारण भी यही है। यथार्थवाद की आधार-भूमि यदि वस्तुतः सत्य का अन्वेषण और उस दिशा में निरन्तर यात्रा वाली होती तो शायद भारत की भूमि से (और अब तो कहा जा सकता है कि विश्व के बौद्धिक जगत से भी) प्रभाहीन नहीं हो जाती। भारतीय मनीषा किसी भी तथ्य को अंतिम सत्य न तो मानती है और न स्थापित करती है। वैसे तो निरन्तर खोज की यात्रा ही समूची मानवीय सभ्यता का इतिहास है। समग्रता की ओर हिन्दी साहित्य के लेखन को जोड़ने का श्रेय विस्सन्देह अज्ञेय को जाता है। छायावाद और प्रगतिवाद से भिन्न रचनात्मक प्रक्रिया की खोज में ‘तार सप्तक’ के कवियों के एक साथ आने में मुख्य भूमिका सैद्धान्तिक विचार-भूमि की थी। इस प्रकाशन

ने साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में बौद्धिक उत्तेजना उत्पन्न की। आज के साहित्य-चिन्तन में इसे व्यापक स्वीकृति प्राप्त हो रही है।

आलोचना में साहित्य-समीक्षा की कसौटियाँ क्या हों यह प्रश्न भी बार-बार उठता रहा है। संस्कृत में काव्य-शास्त्र की लम्बी परम्परा रही है। हिन्दी के प्रारंभिक आलोचकों ने उन कसौटियों पर आलोचना के सिद्धान्त प्रस्तुत करने की कोशिश भी की। पश्चिमी साहित्य से संपर्क के बाद सौन्दर्य शास्त्र, मनोविज्ञान और काव्यशास्त्र के कुछ सूत्रों का समावेश भी किया गया। लेकिन आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने *नया साहित्य: नए प्रश्न* में लिखा- “काव्य की मीमांसा प्रमुखतः तीन भूमियों पर होती है। पहली भूमि कल्पना तत्व से संबंधित है, इसे ही आधुनिक शब्दावली में सृजन-प्रक्रिया कहा जाता है। जीवन और जगत के अनन्त वस्तु व्यापार जिस प्रकार कवि मानस को प्रभावित और उद्बुद्ध करते हैं तथा उसकी रचनात्मक क्षमता जिन ‘रूपों’ में जाग्रत होती है, वह सारा विवेचन सृजन-प्रक्रिया के विवेचन की सीमा में आता है। मेरा मत यह है कि भारतीय अलंकार संप्रदाय अपने मौलिक रूप में काव्य के इसी पक्ष से संबंधित है। इसके पश्चात् रूपों या कल्पनाओं के व्यक्तीकरण की स्थिति आती है। रीति और वक्रोक्ति के मत अपनी मूल भूमिका में इसी व्यक्तीकरण या वाणी-व्यापार की प्रक्रिया से संबद्ध हैं। इसे ही समुद्र बंध ने काव्य का व्यापार-मुख कहा है। ध्वनि और साधारणीकरण के भारतीय विवेचन इस व्यक्तीकरण के प्रश्न को काव्य की प्रेषणीयता से जोड़ देते हैं। इस प्रकार रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और साधारणीकरण की मीमांसा काव्य के व्यापार-पक्ष को पूर्णता प्रदान करती है। अंततः ‘रस’ सिद्धान्त का कार्यक्षेत्र आता है जो मूलतः काव्य के आस्वाद पक्ष से संबंधित है। (*नन्ददुलारे वाजपेयी रचनावली* भाग-1 सं. डॉ. विजयबहादुर सिंह : पृ. 14)।

वाजपेयी जी ने पश्चिम के सौन्दर्य शास्त्र और भारतीय काव्य शास्त्र का सम्यक अध्ययन करने के बाद ही साहित्य समीक्षा की कसौटियाँ प्रस्तुत की थीं। इसीलिये हमने प्रारंभ में ही कहा कि महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद आचार्य परंपरा में नन्ददुलारे वाजपेयी ही आ सके। वे एक समर्थ और दृष्टि संपन्न आलोचक थे जो अपने पूर्ववर्ती विचारकों के मत को नकारते नहीं, विस्तार देने की कोशिश करते हैं। पाश्चात्य विचारों के प्रवाह में भी वह भारतीय भाव-भूमि पर दृढ़तापूर्वक खड़े रहे। उनका व्यक्तित्व स्वतंत्र चेतना से संपन्न था। इसीलिये शुक्ल जी के बाद आलोचना के क्षेत्र में प्रतिस्थापनाओं को लेकर उनको ही याद किया जाता है।

इसके बावजूद हिन्दी की आलोचना में अभाव की बात जब की जाती है तो उसका मुख्य कारण मार्क्सवादी आलोचना के उन मानदण्डों का प्रभाव रहा जो किसी भी रचना को ‘विचारधारा’ की कसौटी पर तौलते रहे।

एक समय विशेष में पत्र-पत्रिकाओं, प्रकाशनों, विश्वविद्यालयों और प्रचार के अन्य साधनों पर वर्चस्व जमाकर ऐसा वातावरण तैयार कर दिया गया था जहाँ बौद्धिक विमर्श के लिये कोई जगह नहीं थी। हिन्दी की आचार्य परंपरा ने वैचारिक प्रतिरोध खड़ा करने में

बड़ी भूमिका निभाई। फिर भी साहित्य-समीक्षा में कृति से अधिक उसके रचनाकार को केन्द्र में रखने की प्रवृत्ति कायम रही। इस संबंध में अज्ञेय के मत का उल्लेख समीचीन प्रतीत होता है : “कोई वास्तव में कृतिकार है तो उसकी दृष्टि कृति में ही दीखनी चाहिये और उसी से उसको पहचानना और ग्रहण करना चाहिये। यह दृष्टि हमें डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ. विश्वनाथ तिवारी और डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय में दिखाई देती है। डॉ. चन्द्रकान्त बाँदिवडेकर ने आलोचना के क्षेत्र में अपना स्थान केवल इसीलिये बना लिया क्योंकि उन्होंने कृति की समीक्षा की और उसके जरिये रचनाकार को समझने का प्रयास किया। यह तभी संभव है जब आलोचक में भी संवेदना मौजूद हो। अपनी संवेदनाशीलता से ही वह रचना के गहरे और मर्मस्पर्शी भावों को पाठकों तक पहुँचा सकता है। ऐसा न कर पाने वाली आलोचना, कृति की अपेक्षा कृतिकार पर ही केन्द्रित हो जाती है। यहाँ उन तथाकथित आलोचकों का उल्लेख न करना ही उचित होगा जो अपनी लम्पट भाषा में दूसरे को गंगा करने को ही साहित्य-कर्म मानते हों और फतवे जारी करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हों।

हिन्दी आलोचना में भारतीयता का स्वर उभरता अवश्य रहा है, परन्तु भारत की सांस्कृतिक आधार-भूमि पर साहित्य को परखने की साफ दृष्टि उपलब्ध नहीं हुई। साहित्य को छायावाद, रहस्यवाद, प्रयोगवाद, मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, परंपरावाद जैसी कसौटियों में बाँट कर देखने की दृष्टि ही पूर्णतः अभारतीय है। साहित्य को उसकी समग्रता में तभी देखा जा सकेगा जब उसके लक्ष्य को समझने की कोशिश होगी। साहित्य का लक्ष्य आचार्य शुक्ल के अनुसार लोकमंगल है। यह मूलतः भारत की सांस्कृतिक दृष्टि है। दूसरी ओर पाश्चात्य दृष्टि मनुष्य को ही अर्थ केन्द्रित या सेक्स केन्द्रित अथवा वस्तु केन्द्रित मानकर उसे विखंडित करती रही है। इसे आधार बनाकर हिन्दी साहित्य को परखने और तदनुसार लेखकों के विभाजन करने की कसौटी यह होनी चाहिये थी कि कौन सी कृति सांस्कृतिक धारा के अन्तर्गत रखी जाय और किसे आयातित धारा का माना जाय। क्योंकि हिन्दी साहित्य में घोषित प्रगतिवादी परंपरा के अनेक ऐसे रचनाकार मौजूद हैं जो भारत के सांस्कृतिक प्रतिमानों से प्रेरणा लेते रहे। विखंडन की प्रक्रिया से ऐसे रचनाकारों की भी उपेक्षा हुई। इस द्वन्द्व ने हिन्दी साहित्य को सर्वाधिक आघात पहुँचाया है। इसका एक स्वाभाविक दुष्परिणाम होगा-साहित्य पूरी तरह राजनीति से संचालित होने लगेगा। यह उसकी स्वायत्तता के लिये बड़ा खतरा है। इस संभावना के प्रति सचेत करते हुए डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने लिखा- “आलोचना को पंथों के साथ बाँधने से दोनों ओर भयानक भूलें और अपराध हुए। आलोचना अगर साहित्य की तरह एक सर्जनात्मक कर्म है और तटस्थ भी, अगर वह यह नहीं है तो वह रचना को भी क्षति पहुँचायेगी, आलोचना को भी और अपने समय, समाज और मनुष्य को भी।”(*मेरे साक्षात्कार* : पृ. 86)।

समकालीन काव्यालोचन : शब्दों के घटाटोप में अर्थ का भटकाव

शशि मुदीराज*

आलोचना का व्युत्पत्तिपरक आशय है 'देखना', यह 'देखना' कोई इकहरी आंगिक क्रिया मात्र नहीं है बल्कि एक मानसिक, बहुआयामी और चयनधर्मी प्रक्रिया और प्रतिक्रिया है। हम देखते हैं अपने व्यक्तित्व की पूरी बनावट और बुनावट के साथ, और वही देखते हैं जो कि हम देखना चाहते हैं और देख सकते हैं, वह नहीं जो कि हमारे सामने 'है' या 'होता है'। इस 'है' या 'होता है' को देखने के लिए जो निरेपक्ष वस्तुनिष्ठता चाहिए उसे प्राप्त करना दुस्साध्य है। क्योंकि 'देखना' तो इस कदर आत्मनिष्ठ है कि 'मूँदहु आँख कतहूँ कछु नाही' (तुलसी) यानी न देखने से सब कुछ निरस्तित्व हो जाता है, इसलिए 'देखना' अपने और वस्तुजगत के अस्तित्व को बचाए रखने के लिए आवश्यक है।

आलोचना न केवल इस 'देखने' से संबंधित है, बल्कि 'दिखाने' से भी। आलोचक केवल देखता नहीं, बल्कि दिखाने का दायित्व दायित्व भी लेना है। इसलिए आलोचना एक नितान्त सामाजिक कर्म है। तब सवाल उठता है कि अपने व्यक्तिगत पूर्वग्रहों से ऊपर उठकर सामने प्रस्तुत 'दृश्य' या 'पाठ' को उसकी रचनात्मक शर्तों पर देखना-दिखाना क्या संभव है? शमशेर ने 'बात बोलेगी, हम नहीं, भेद खोलेगी बात ही' कहकर जो अप्राप्य-सा आदर्श हमारे सामने रख दिया, क्या हमारी साहित्यालोचना उसके नजदीक या उसके इर्दगिर्द भी पहुँची है या पहुँच सकती है?

कविता एक 'पाठ' है और हमारा काव्यालोचन उसका भाष्य। जाहिर है कि भाष्यकार की अपनी सोच, रचनात्मकता और अपने भाषिक मुहावरे का प्रभाव और प्रयोग उसके भाष्य को निरूपित करने में प्रबल भूमिका निभाएगा, तब 'पाठ' की

*शशि मुदीराज : सेवानिवृत्त प्रोफेसर, हिंदी विभाग, यूनिवर्सिटी ऑफ हैदराबाद, हैदराबाद-500046
संपर्क: Plot No. 311, Gulmohar Park, Lingampall, Hyderabad-500019. Phone: 040-23010421; Mobile: 09391092053; E-mail: shashi1948mudiraj@gmail.com

वस्तुनिष्ठता को अर्थात् रचना की अपनी माँग और शर्तों को बनाए रखना इस भाष्यकार या आलोचक के लिए बहुत कठिन होता है, फिर भी आलोचना अपना धर्म निभाती है और रचना के गुण-दोष-विवेचन और मूल्यांकन की परंपरा को बनाए रखती है। हिंदी आलोचना में भी यही होता है। रचना और आलोचना के बीच के द्वंद्वात्मक रिश्ते को निभाने में आलोचना के कई प्रकार, कई रूप और कई अभिगम सामने आए हैं। इनके इतिहास में जाने की यहाँ जरूरत नहीं, लेकिन ध्यातव्य है कि पिछले कुछ दशकों में काव्यालोचन का एक ऐसा रूप सामने आया है और आज की कविता और उसकी आलोचना में ऐसी प्रवृत्ति प्रबल हो चली है कि कवि के बहाने आलोचक अपने मनमिजाज, अपनी सोच और अपने शब्द-चातुर्य को आगे रखकर ऐसा सम्राट् बाँधता है कि आलोच्य कविता या पाठ-विशेष पीछे छूट जाता है, मूल कवि हक्का-बक्का-सा देखता रह जाता है या अपनी प्रशस्ति हो तो कृतज्ञ-मुग्ध होकर रह जाता है और आलोचक अपनी 'रचनात्मकता' और 'कल्पनाशीलता' के प्रतिमान स्थापित करने में लग जाता है। उदाहरण के लिए निराला को आधार बनाकर लिखी गई दूधनाथ सिंह की पुस्तक 'निराला: आत्महंता आस्था' को लिया जा सकता है। इसकी भूमिका में ही अपनी मान्यता लेखक ने इन शब्दों में रख दी है "दरअसल सच्चा रचनाकार घनी-सुनहली अयालों वाला एक सिंह होता है, जिसकी जीभ पर उसके स्वयं के भीतर निहित रचनात्मकता का खून लगा होता है। अपनी सिंह-वृत्ति के कारण वह कभी भी इस खून का स्वाद नहीं भूलता और हर वक्त शिकार की ताक में सजग रहता है चारों ओर से अपनी नजर समेटे, एकाग्रचित्त, आत्ममुख, एकाकी और कोलाहलपूर्ण शांति में जुझने और झपटने को तैयार। इसी तरह की एकाग्रचित्तता और आत्ममुखता में सिंह को मचान पर बैठे हुए शिकारी का ध्यान नहीं रहता। ...वह कोशिश करता है, जैसे सिंह भी कभी-कभी मचान की ओर झपटता है (और निराला ने भी शायद बहुत कोशिश की होगी) लेकिन उसकी सघन आत्ममुखता इसमें बाधक होती है।" आगे दूधनाथ सिंह ने स्पष्ट किया है कि "निराला की जीवनी से भी अधिक मौलिक और शाश्वत कला-रचना के प्रतीक 'निराला' को उनकी रचनाओं से ही समझा जा सकता है। अगर उनका जाना हुआ जीवन हमारी आँखों से तिरोहित भी हो जाए, तब भी गुफा के अंधेरे में बैठी हुई उनकी सिंह-वृत्ति जलती हुई आँखों से एकटक बाहर की ओर घूरती है।" आलोचना के नाम पर यह नई रचना है, इसे आलोचना कहा जाए या आलोचनाभास, या आलोचना कहा भी जाए या नहीं यह विचार का विषय है। क्योंकि निराला के बहाने गुफा में बैठे सिंह का यह बिंब दूधनाथ सिंह की अपनी कल्पना है। निराला के जीवनीकार रामविलास शर्मा ने निराला की रचनाओं की भी समीक्षा की है और 'निराला की साहित्य साधना' के तीसरे भाग में निराला के जीवन और रचनाओं को और अधिक तथ्यपरक व वास्तविक बनाने के लिए पत्रों को भी संकलित-प्रकाशित किया है। किसी रचनाकार के व्यक्ति या रचना पक्ष को समझने के लिए यह एक सुपुष्ट आधार है। दूसरी ओर पांडेय शशिभूषण शीतांशु की लिखी

पुस्तक 'निराला का अलक्षित अर्थगौरव' है और नंदकिशोर नवल की दो भागों में लिखी गई 'निराला: कृति से साक्षात्कार' है। इन दोनों पुस्तकों में निराला की काव्यरचनाओं की पाठपरक विवेचना है। ऐसे में दूधनाथ सिंह की पुस्तक काव्यालोचन की तीसरा मोर्चा खोलती है जहां नितांत आत्मपरक, नितांत निजी और अंतरंग ढंग से निराला के काव्य को देखने और दिखाने की कोशिश है। दूधनाथ सिंह ने स्वीकार भी किया है कि निराला की कविता के उनके 'एंजॉयमेंट' के लिए लिये गये उनके नोट्स ...उन्हीं 'नोट्स का क्रमबद्ध रूपांतरण' यह पुस्तक उनके 'निजी' आनंद की अभिव्यक्ति है। लेकिन आगे वे यह भी दावा करते हैं कि "यह पुस्तक... नई शास्त्रीयता की तलाश की ओर एक कदम है। लेकिन जब दूधनाथ सिंह का यह 'निजी आनंद' उनकी 'निजी नोट बुक' से बाहर निकल कर पुस्तकाकार में सन् 1972 में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया गया, तब यह एक 'सामाजिक अनुभव' बन गया। और एक सामाजिक कर्म के नाते सामाजिक दायित्व से भी जुड़ गया। स्वाभाविक है कि निराला-काव्य के अन्य अध्येताओं के संदर्भ में दूधनाथ सिंह की आलोचना-दृष्टि का भी परिगणन-अध्ययन-मूल्यांकन हो। उदाहरण के लिए पांडेय शशि भूषण 'शीतांशु' की पुस्तक 'निराला का अलक्षित ली जा सकती है। 1977 में प्रथम संस्करण में आई इस पुस्तक में लेखक ने जो 'स्टैंड' लिया है वह दूधनाथ सिंह के विपरित ध्रुवांत पर है। शीतांशु जी इस पुस्तक की भूमिका में गिल्बर्ट हाइएट को उद्धृत करते हुए अपनी आलोचना-दृष्टि स्पष्ट करते हैं "प्रायः कविता पढ़ने के बाद कवित की तीव्र अनुभव-प्रक्रिया, उसकी सांगीतिकता, लयकता विंबमयता आदि में हम तल्लीनता पूर्वक खो जाते हैं। इसमें संशय नहीं कि यह हमारे लिए एक आह्लादकारी स्थिति होती है।" लेकिन ऐसी स्थिति में हम कवि के मूल विचार और कविता के मर्म को पाने से रह जाते हैं।" इस 'खो जाने' की परिणति है 'निजी आनंद', लेकिन जब इस निजी आनंद को आलोचना की परंपरा में शुमार करवाने की हसरत हो तो 'पाठ' का आधार लिया जाना चाहिए। रचना को खुली आँखों से चतुर्दिक जीवन-वास्तव को ध्यान में रखते हुए पढ़कर ही कवि के मूलभूत विचार और कविता के मर्म को पाया जा सकता है। 'निराला का अलक्षित अर्थगौरव' के द्वितीय संवर्द्धित संस्करण (2009) में शीतांशु जी ने अपनी बात को और अधिक स्पष्ट किया है "किसी भी भाषिक पाठ में निहित अर्थ उस पाठ की भाषा-व्यवस्था से निष्पन्न होता है, भले ही कोई सर्जनात्मक लेखक कितनी ही नव्यता क्यों न दिखाए, पर वह अपनी भाषिक व्यवस्था से बाहर नहीं जा सकता है। यही स्थिति सर्जनात्मक पाठक के साथ भी होती है।" (पृ. 13) दूधनाथ सिंह और शीतांशु इन दोनों आलोचकों के दृष्टि-वैभिन्न्य को समझने के लिए निराला की एक कविता का उदाहरण द्रष्टव्य है जहां आलोचकीय क्षमता की सर्वाधिक अपेक्षा है

ताक कमसिन वारि
ताक कम सिनवारि

ताक कम सिन वारि
सिनवारि सिनवारि

इरावनि समक कात्
इरावनि सम ककात्
इराव निसम ककात्
सम ककात् सिनवारि।

ये पंक्तियां पाठकीय समझदारी और भावयित्री क्षमता के लिए चुनौती हैं। पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' को यह 'निराला की विक्षिप्तावस्था को प्रकट करने वाली शब्द क्रीड़ा' लगी तो रामविलास शर्मा ने इसे 'ध्रुपद जैसी पुरानी गायकी में शब्दों को उलटफेर करना' मान लिया। दूधनाथ सिंह के अनुसार "अर्थप्रसार से सनातन मौन की ओर जाते हुए किस तरह शब्द संक्षिप्ततम बिंबों में बदलते गए हैं, छंद किस तरह संक्षिप्त होते हैं और अर्थ की जगह किस तरह एक सूक्ष्म, व्याकरणहीन, अर्थरहित (निरर्थक नहीं) लय ले लेती है... जैसे निराला शब्दार्थ से आगे, उस शब्दातीत लय के झीनेपन से खेल रहे हों।" (पृ.25) लेकिन ऐसा नहीं हो सकता। निराला की ये पंक्तियाँ भी अर्थहीन, अर्थातीत या अर्थातिक्रमित नहीं हैं। 'पाठ' को प्रस्थानबिंदु मानकर चला जाए तो इनका भी अर्थ है। शीतांशु जी ने निराला की इस रचना-प्रक्रिया को 'विवेकोत्तर भावसमाधि' और इसकी भाषा को 'द्रवित स्थिति की काव्याभाषा' का उत्कृष्ट उदाहरण मानते हुए इन पंक्तियों का अर्थ किया है "इसकी पहली पंक्ति में किसी कम उम्र नवयुवती से अपनी ओर देखने के लिए आग्रह अभिव्यक्त हुआ है। संरचना में संध लगाकर प्रवेश करने से बाद की तीन पंक्तियों में भी कुछ अर्थवत्ता प्राप्त हो जाती है। दूसरी पंक्ति में चढ़ती उम्रवाली के वेधक दृष्टि-निक्षेप के कारण कम देखने, दबी आँसे से, चितवन से देखने का आग्रह है। तीसरी पंक्ति में कम देखने, अपांग से निरखने के आग्रह के साथ-साथ उस दृष्टि के लिए अपनी उम्र न्योछावर करने का कथन है और चौथी पंक्ति में चढ़ती उम्रवाली पर अपनी उम्र न्योछावर करने का स्पष्ट उल्लेख है। ये चार पंक्तियाँ कुल मिलाकर एक संदर्भ की सर्जना करती हैं।" शीतांशु जी बाद की चार पंक्तियों को "संगीत और नृत्यकला के स्तर पर झीमता-झूमता गत्वर हो उठने" वाला मानते हुए यह भी निर्दिष्ट करते हैं कि "इस कविता में शरीर के केवल एक अंग का क्रियाव्यापार लिया गया है। अंग 'आँख' है और इसका क्रिया-व्यापार निरखना ('ताक') है।... कविता के बाद के दो चरणों में प्रथम चरण में व्यक्त उद्गार के आह्लाद को ही ध्वनि-प्रतीकों में दुहराया गया है। यहाँ व्याकरण और रचना के नियम ध्वस्त हो गए हैं और द्रवित स्थिति की यह विचलन (Deviation) तथा विपथन (Deflection) प्रसूत भाषा विवेकोत्तर भावसमाधि में पहुँच गई है। (पृ. 162-63) पाठकेंद्रित वस्तुपरक विवेचन के कारण यह व्याख्या पाठक को कविता के

मर्म में प्रवेश करने का मार्ग दिखाती है, केवल 'आह' और 'वाह' वादी आलोचना में सिमट कर नहीं रह जाती।

लेकिन चिंतनीय है कि यह तीसरा मोर्चा यानी आलोचना में आलोच्य कवि और कविता को पीछे छोड़कर अपने ही कल्पना-वैभव और शब्द-कौशल में पाठक को उलझाए रखने का यह अंदाज आज की समीक्षा में बढ़ता जा रहा है। उदाहरण के लिए निराला की ही परंपरा में आनेवाले दो और कवियों को लिया जा सकता है। ये दो कवि मुक्तिबोध और शमशेर पाठक/आलोचक को अपने चुनौतीपूर्ण स्वभाव के कारण आकर्षित भी करते हैं और ललकारते भी हैं। मुक्तिबोध पर ढेरों समीक्षाएँ लिखी गई हैं लेकिन इनमें से कुछ मुक्तिबोध की कविता में हिस्सेदारी करने के बजाय शब्दों का तूमार खड़ा करती हैं। 'आलोचना' के जुलाई-सितंबर 2009 के अंक में अपूर्वानंद का लेख है "मुक्तिबोध: आह्लाद की लय" (पृ.55-61)। सात पृष्ठों का यह लेख शुरू के साढ़े तीन पृष्ठों में मुक्तिबोध को पढ़ाने के लिए कक्षा की ओर बढ़ते अध्यापक की मनःस्थिति, संकोच और भ्रम की नाटकीय प्रस्तुति से आरंभ होता है लेकिन इसके बाद अपूर्वानंद मुक्तिबोध की कविता 'मुझे कदम कदम पर' के अध्यापन पर केंद्रित हो जाते हैं। बेशक यह अध्यापकीय पाठ-विश्लेषण मुक्तिबोध की कविता को समझने में मदद करता है। लेख का अंत फिर उसी आत्मीय आलाप में होता है कि "कविता में चुनाव अनेक स्तरों पर करना होता है, खोज भी कई स्तरों पर की जाती है। अंततः वह अपने लिए एक सही लय की खोज में बदल जाती है। पहली बार मुक्तिबोध को सुनने के कोई तीस बरस बाद जब फिर उन्हें सुना तो वही लय जग पड़ी। उसको आशा के आह्लाद की लय में कहना चाहुंगा।" (पृ.61) आलोचना की यह एक अलग भंगिमा है जिसमें आलोचक कवि से और कविता से एक निजी रिश्ता बनाता है। कहना न होगा कि दूधनाथ सिंह ने निराला पर अपने 'निजी नोट्स' को सार्वजनिक किया है तो अपूर्वानंद ने अपने 'क्लास नोट्स' को आलोचना की शकल दी है।

मुक्तिबोध के ही प्रसंग में एक लेख की चर्चा और कर ली जाए। 'जैसे कोई लहर लौटकर किनारे के पत्थर पर सिर पटकती है' शीर्षक' सोच-1 (2003) में प्रकाशित सुधीश पचौरी का लेख (पृ.73-78) कुछ यूँ शुरू होता है "अचानक मुक्तिबोध की पंक्तियाँ याद आने लगीं, पूरी नहीं उनकी काव्य-स्थिति, उक्ति की स्थिति, उक्ति के तर्क अचानक दरवाजे पर खड़े हो मुस्कुराने लगे। यह अजीब-सी व्यंग्य-दीप्त मुस्कान। किसी टेक्स्ट का यों इस तरह लठ लेकर खड़े हो जाना: यह अक्सर होता है जब भी किसी 'थियरी' में आता हूँ। किसी ऐसी जगह जहाँ से इस देशकाल को कामचलाऊ ढंग से ही सही, समझा जा सके, वहाँ पहुँचने के लिए, कई बार कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टों, कई बार मुक्तिबोध की कुछ काव्य-पंक्तियाँ, अचानक एक महामिक्स-सा बनकर विराजती हैं। बहुत कुछ मुक्तिबोध की कविताओं के 'मिक्स'

की तरह। और इससे बड़ी गड़बड़ होती है। ...यह लिख लिखकर फाड़ना नहीं है, लिखने से पहले 'हकलाना' है। (!) यह टेक्स्ट बनाने से पहले अपने जंगल से निकलना है, अपने कबाड़ से, अपने 'खंडहर'! शायद यही वह शब्द था जिसने मुक्तिबोध की एक पुरानपी कविता तक पहुँचाया।

इसके बाद मुक्तिबोध की कविता-पंक्तियों का उल्लेख दो पृष्ठों में, फिर मुक्तिबोध 'आदि विद्रोही' के स्पार्टाकस-प्रसंग के साथ मिलजुलकर पीछे छूट जाते हैं, लेख के अंत में 'असमाप्त' दिया हुआ है इस लिए मुक्तिबोध, स्पार्टाकस, सोवियत संघ के विघटन का यह 'महामिक्स' कहाँ पहुँचेगा या पहुँचाएगा भविष्य की बात है।

तीसरे कवि हैं शमशेर और वे आलोचकों के लिए निराला ही की तरह, बल्कि उनसे कुछ अधिक, चुनौती हैं। शमशेर अपने कविता के दुरूह सौंदर्य के कारण आलोचकों के आगे चुनौती फेंकते हैं। कई आलोचकों ने इस चुनौती को स्वीकार किया, लेकिन कुछ ऐसी भी आलोचनाएँ लिखी गईं जो शमशेर की कविता को और अधिक दुरूह और अधिक दुर्बोध्य बना देती है। जैसे 'तद्भव' के जनवरी 2011 के अंक में सुबोध शुक्ल का लेख है 'प्राण का है मृत्यु से कुछ मोल सा'। आठ पृष्ठों के (पृ. 23 से 39 तक) इस लेख में शमशेर की कविता से उद्धरण केवल छः हैं। बिना उदाहरण के, बिना संदर्भ के इस लेख में कई फतवेनुमा वक्तव्य हैं जो कुछ मिलाकर शमशेर की कविता में प्रवेश का कोई द्वार नहीं खोलते। विस्तार में न जाते हुए केवल एक उद्धरण यहाँ दिया जा रहा है "शमशेर की कविता में संसार एक प्रश्न की तरह मौजूद है जिसका उत्तर कविता की अंतर्मुखी स्थानीयता में मिलता है। यह स्थानीयता शमशेर की कविता को समझने का दूसरा पड़ाव है। किसी कविता में पैठी जमी स्थानीयता का आयतन, कविता के आकस्मिकता को पहचान लेने के क्रम में चिह्नित होता है। इसको आँकने या परखने का यही निर्णायक बिंदु है। आकस्मिकता का व्यवहार, कविता के गठन को जितना मथेगा, उसकी स्थानिकता उतनी ही स्पष्ट और सीमांकित होती चली है। शमशेर की कविता में इस स्थानिकता की एक अलग पहचान है। ऐसा नहीं है कि सांसारिक उपस्थिति के दबाव उनकी कविता पर नहीं है पर प्रतिरोध के आलोचकीय संस्कार उनकी अपनी ही कविता के वस्तुगत आत्मालाप को, स्वायत्त करने की क्षमता रखते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। यह वस्तुगत आत्मालाप, कविता बनाने की प्रक्रिया का सबसे निजी और भावुक पहलू है; शमशेर की कविता में। ये आत्मालाप ही हैं जो संवाद से लेकर विवाद तक और बतकही से लेकर बड़बोलेपन तक के कविजनित अंतरंग कलह के प्रति उत्पाद हैं। किंतु ये किसी फिनिश उत्पाद की तरह हल भी होते हैं ये जरूरी नहीं। ये सारे निर्माण, शमशेर की कविता के मनःजनित क्षितिज हैं। या कहें कोशिकाएँ हैं। यह ध्यान रहे कि जैसी प्रक्रिया रचना के अंतर्जगत में काम कर रही है, वही रचना की सतह पर भी चल रही होती है। अंतर मात्र इतना ही होता है कि सतह का रेखांकन, कविता के भीतरी छंदों

के निपटारे के बाद ही किया जा सकता है और इस आयोजन का जोखिम यह है कि अंदरूनी तनाव से उत्पादित चरित्र, कभी-कभी सतह के अस्तित्व को निगल जाता है और कविता अपनी ही बनाई गई पारदर्शिता में आक्रामक हो जाती है और उसे अपने गर्भ तक पहुँचाने के लिए स्वयं को आंदोलित करना पड़ता है

“सींग और नाखून
लोहे के बख्तर कंधों पर
सीने में सूराख हड्डी का
आँखों में: घास कोई की नमी
एक मुर्दा हाथ
पाँव पर टिका
उल्टी कलम थामे
तीन तसलों में कमर का घाव सड़ चुका है”
(सींग और नाखून)

तो यह हुई कविता और यह रही आलोचना। उद्धृत काव्य पंक्तियाँ चुनौती की तरह सिर उठाए खड़ी हैं आलोचकीय/पाठकीय समझदारी और भागीदारी की अपेक्षा में मगर आलोचक है कि इन पंक्तियों से नजरें चुराकर अपने ही दर्प में वक्तव्य दिये चले जा रहा है।

सवाल उठता है कि ऐसे क्यों है? क्या कविता को समझने, उसमें हिस्सेदारी करने की जगह अपनी ही समझदारी (?) को उस पर आरोपित करते चले जाना आलोचक की एक नए किस्म की मजबूरी है या अपनी सत्ता बनाए रखने का षड्यंत्र है?

आज की कविता के सदंर्भ में स्थिति और जोखिमभरी हो गई है। आलोचक के पास बने-बनाए औजार हैं विचारधाराएँ हैं, दृष्टियाँ हैं, जिन्हें वह रचना पर आजमाना चाहता है। निश्चय है कि ऐसी स्थिति में रचनाकार और पाठक दोनों को शिकायत होगी। मंगलेश डबराल का कहना है कि “हिंदी आलोचना के साथ सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि उसकी माँग होती है कि उसे महत्त्व दिया जाए। उस रचना से भी ज्यादा जिसकी वह आलोचना है।” (तद्भव, जुलाई, 2007, पृ.55) जाहिर है कि ऐसी आलोचना पाठक को दृष्टि के बजाय दृष्टिभ्रम देती है।

समकालीन हिंदी आलोचना की चुनौतियाँ

अरुण होता*

सन् 1963 ई. में ‘धर्मयुग’ के किसी अंक में देवीशंकर अवस्थी ने लिखा था “हिंदी के जीवंत लेखन से संबद्ध आप-हम सभी लोग यह अनुभव कर रहे हैं कि आलोचना-कार्य एक निहायत घटिया स्तर पर पहुँच गया है।” देवीशंकर अवस्थी की यह चिंता उस समय प्रकट हुई थी जब रामविलास शर्मा का आलोचना-कर्म अपने उत्कर्ष पर था। मुक्तिबोध की ‘कामायनी : एक पुनर्विचार’ पुस्तक आ चुकी थी। नामवर सिंह प्रसिद्ध आलोचक के रूप में परिचित हो चुके थे। देवीशंकर अवस्थी ने एक और टिप्पणी की “यह एक खेदपूर्ण तथ्य है कि पिछले 15 वर्षों में कुछ अपवादों को छोड़कर जो भी आलोचना-कार्य हुआ है, वह सृजनशील लेखकों द्वारा ही संपन्न हुआ है।” उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से अवस्थी जी की चिंता जाहिर होती है। 50 वर्ष बाद भी हिंदी आलोचना की स्थिति में बहुत कुछ बदलाव दिखाई नहीं पड़ता।

इधर एक उपेक्षा-भरा पदबंध चला ‘प्राध्यापकीय आलोचना’। यह सृजनशील लेखकों द्वारा प्रवर्तित हुआ। आलोचक को परजीवी माना गया। और भी बहुत कुछ कहा गया। लेकिन सच्चाई यह है कि पाँच मूर्धन्य आलोचकों के नाम गिनाए जाएँ तो वे पाँचों ‘प्राध्यापक’ ही होंगे। मसलन, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. नामवर सिंह। ये सभी आलोचक विश्वविद्यालयों से संबद्ध थे। आलोचना की कल्पना विश्वविद्यालय के बिना साकार होती नहीं दिखाई पड़ती है।

कुछ सृजनशील लेखकों की दृष्टि में आलोचना दायम दर्जे का काम है। उनकी दृष्टि में असली बात रचना है। मौलिक होती है रचना और आलोचना रचना पर आश्रित होती है। तभी तो उन्होंने आलोचक को परजीवी कहा है। खैर, यह दूसरा

*प्रो. अरुण होता, पश्चिम बंगाल बरासत स्टेट विश्वविद्यालय कोलकाता-700126; 2 एफ, धर्मतल्ला रोड, कस्बा, कोलकाता 700042, मो. 09434884339, ahota5@gmail.com

प्रसंग है। रचना और आलोचना के विवाद को विराम देते हुए समकालीन आलोचना के परिदृश्य और उसकी चुनौतियों पर चर्चा अपेक्षित है।

हिंदी आलोचना को लेकर सबसे बड़ी चिंता है कि यहाँ सैद्धांतिक बहसों का अभाव है अथवा न के बराबर है। आचार्य शुक्ल से लेकर 'शीतांशु' जी तक ने सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना के बीच एक अद्भुत समन्वय बनाए रखने का प्रयास किया है। आज की हिंदी आलोचना में व्यावहारिकता ही अधिक है। समर्थ आलोचक वे ही कहलाते हैं जो सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना का मणिकांचन योग प्रस्तुत करते हैं। अन्यथा, आलोचना के प्रतिमान निर्मित न होंगे। आलोचना के सारे पुराने प्रतिमानों के आधार पर रचना का मूल्यांकन करना अनुचित है। क्योंकि, तेजी से बदलते समय के अनुरूप रचनाएँ निर्मित हो रही हों और उसकी परख ईसा पूर्व समय के मानकों पर हों तो हास्यास्पद प्रतीत होता है।

उत्तर आधुनिक दौर में समकालीन हिंदी आलोचना की सबसे बड़ी चुनौती है वातावरण का असाहित्यिक होना। कहने के लिए तो तमाम किताबें, साहित्यिक पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, संस्थानों, विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों आदि की कृपा से किताबें खूब खरीदी जा रही हैं। आये दिन पुस्तक-विमोचन, लोकार्पण, पुस्तक केंद्रित गोष्ठियाँ, सम्मान, पुरस्कार आयोजन आदि होते रहते हैं। सामर्थ्य के अनुसार आलोचक जुटाये जाते हैं। आलोचक तो क्या, स्तावक कह लीजिए। वह किताब के बारे में नहीं, लेखक के बारे में बोलता है। 'अच्छी जगह' पर आयोजन संपन्न होते हैं। मीडिया में यथासंभव 'हाइलाइट' करने की कोशिश होती है। बावजूद इन प्रयासों के पूछा जा सकता है कि कितने उस रचना का पाठ करते हैं? ऐसी स्थिति में आलोचना की स्वस्थ परंपरा कैसे निर्मित होगी?

आज पुस्तक समीक्षा सबसे अविश्वसनीय होती जा रही है। पुस्तक समीक्षा लिखी नहीं जा रही है, लिखवाई जा रही है। मित्र संपादक उसे प्रकाशित कर रहे हैं। समीक्षक को पूरी किताब में या तो कोई त्रुटि या कोई अच्छाई दिखाई नहीं पड़ती। अत्यधिक प्रशंसा या अत्यधिक निंदा से समीक्षा लिखी जा रही है। कहा भी गया है "सर्वम् अत्यंतं गर्हितम्।" किसी भी बात की अति त्याज्य है। बल्व पढ़कर पूरी किताब की समीक्षा कर देने की कला भी फल-फूल रही है। ऐसी स्थिति में आलोचना का मार्गच्युत होना स्वाभाविक है। संदिग्धता आ जाती है, आलोचना अंतर्विरोधों से ग्रसित हो जाती है।

किसी भी रचना के अंतस्तल तक पहुँचनेवाली दृष्टि को आलोचना कहते हैं। इस अंतर्दृष्टि में समय एवं समाज के तमाम संदर्भ सन्निहित होते हैं। रचना तो महज रचना नहीं होती उसमें सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक परिवेश का भी चित्रण होता है। रचना को उसके सामाजिक, सांस्कृतिक आदि संदर्भों में देखना आलोचना का काम है। यह काम तभी संपन्न हो सकता है जब दृष्टि हो और दृष्टि-दोष न हो। आलोचना

में 'लोचन' तो है ही। अर्थात् बिना लोचन की आलोचना नहीं हो सकती है। 'लोचन' तो है लेकिन दृष्टि सही जगह पर न पड़े तो फिर क्या? अच्छी रचना अपने परिवेश की यांत्रिकता, कृत्रिमता, अमानवीयता को समाप्त करती है और मानवीयता की आवाज को बुलंद करती है। आलोचना रचनाकार के उद्देश्य और दृष्टि को समाज तक सही ढंग से प्रस्तुत करती है। इसलिए आलोचना केवल साहित्य तक सीमित नहीं है बल्कि उसके प्रभाव सुदूरप्रसारी हैं। समय के बुनियादी सवालों से टकराकर रचना का विवेचन हो तो आलोचना का क्षेत्र व्यापक होता है।

आज की हिंदी आलोचना संकट के दौर से गुजर रही है। इस संकट में युग के दबावों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण के दौर में पूँजी और बाजार का वर्चस्व चरम पर है। बड़े घराने के मीडिया घरों ने साहित्य की स्पेश विज्ञापन को दे दिया है। बड़े-बड़े व्यावसायिक प्रतिष्ठानों ने अपनी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ बंद कर दी हैं। तर्क यह दिया जाता है कि आज का मध्यवर्ग पत्र-पत्रिकाओं में रुचि नहीं रखता है। अधिकांश पत्रिकाएँ व्यक्तिगत प्रयास से निकल रही हैं। आर्थिक साधन के अभाव में पत्रिकाएँ एक-आध अंक के बाद बंद भी हो रही हैं। अतः साहित्य की अन्य विधाओं के साथ-साथ आलोचना के सामने गंभीर संकट खड़ा हुआ है।

दृश्य-श्रव्य माध्यमों के बढ़ते प्रभाव, सर्वग्रासी विस्तार के चलते साहित्य की दुनिया को हाशिए पर धकेला जा चुका है। शब्दों के संसार की इस स्थिति पर गंभीर रूप से चर्चा होनी चाहिए। आलोचना समझे कि उसका संबंध सभ्यता-संस्कृति से है। उसकी सामाजिकता होती है। इसे पहचाने बिना आलोचना-कर्म पूरा नहीं होगा। दृश्य-श्रव्य माध्यमों के मालिक पूँजीपति होते हैं। उन्हें मुनाफा चाहिए, सिर्फ लाभ। साहित्य से वह मुनाफा कहाँ मिलनेवाला है? पूँजीवादी सभ्यता साहित्य और आलोचना के लिए सबसे बड़ा खतरा बनकर उभर रही है। इस स्थिति में आलोचना का दायित्व और भी बढ़ जाता है। हिंदी आलोचना, एक-आध अपवाद छोड़कर, इस दिशा में लगभग चुप्पी साधे बैठी है। पूँजीवादी ताकतों की साजिशों और चालाकियों को उघाड़कर प्रस्तुत करना आवश्यक है। क्योंकि यह संकट न केवल आलोचना का या साहित्य का है, बल्कि पूरे समाज का है।

समकालीन हिंदी आलोचना को सत्ता के ठेकेदार आलोचकों ने बहुत हानि पहुँचाई है। सत्ता बदलते ही इनकी दृष्टि बदलती है। सत्ता को सुहानेवाले विचार पेश करने की कला में वे माहिर हैं। गिरगिट की तरह रंग बदलने की भाँति ये आलोचना के रुख को बदलते हैं। आलोचकीय विवेक के सामने प्रश्नचिह्न लग जाता है। रचनाकार को कभी काँग्रेसी, तो कभी बजरंगी; और कभी साम्यवादी सिद्ध करने में जुट जाते हैं। "जो रोगी को भावै, वही वैद्य बतावै।" सत्ता का नैकट्य हासिल करने का यह कैसा उपाय है? जीवनभर धार्मिक कठमुल्लेपन पर प्रहार करनेवाले कबीर को

‘हिंदू मानस का कवि’ करार दिया जाता है, जब सत्ता घोर दक्षिणपंथियों के कब्जे में हो। इसी प्रकार, प्रेमचंद को काँग्रेसी सिद्ध किया जाता है जब काँग्रेस के हाथ सत्ता हो। इतना ही नहीं, आलोचना में आजकल उठा-पटक, मार-धाड़, बक-झक अधिक है। लोकतंत्र कम है। चंद आलोचकों के पास समकालीन हिंदी आलोचना गिरवी पड़ी हुई है। ये जिसे छू दें, जिसकी रचना पर एक या दो वाक्य लिख दें तो वह कालजयी रचना का दर्जा पा जाए, सोना बन जाए; जिस पर नजर न पड़ी वह कोयला या मिट्टी का टुकड़ा। इसलिए समकालीन हिंदी आलोचना के सामने सबसे बड़ी चुनौती है कि इस खेमेबाजी और मठों को तोड़ा कैसे जाए? साहित्यिक मठ और मठाधीशों से साहित्य की दुनिया सर्वाधिक प्रभावित हो रही है। अतः मुक्तिबोध की निम्न पंक्तियाँ स्मरण रहें :

“अभिव्यक्ति के खतरे उठाने की होंगे
तोड़ने होंगे मठ और गढ़ सब।”

अंतरानुशासनीय ज्ञान के अभाव में समकालीन हिंदी आलोचना में पैनापन का अभाव परिलक्षित होता है। एक आयामी आलोचना लिखी जा रही है। सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक संदर्भों में आलोचना का विकास प्रभावित हो रहा है। इस दृष्टि में रामविलास शर्मा को उदाहरण के तौर पर रखा जा सकता है। वेदों से लेकर नई कविता या यूँ कहें कि समकालीन साहित्य, दर्शन, इतिहास, नृ-तत्त्व शास्त्र, विज्ञान आदि का गंभीर अध्ययन करने के पश्चात् वे आलोचना कर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं। इससे आलोचक का ‘इंटरडिसिप्लिनरी अप्रोच’ सामने आता है। शुद्ध साहित्यिक आलोचना और वह भी ‘वाह-वाह’ या ‘आह-आह’ की शैली में आलोचना से कोई लाभ नहीं होता। हाँ, अंतरविषयवर्ती आलोचना के बारे में कुछ लोगों का मानना है कि आलोचना को ज्ञान के अन्य अनुशासन से जोड़ने का अर्थ साहित्य को अन्य अनुशासनों का उपनिवेश बना देने जैसा है। ऐसा मानना निराधार है। साहित्य-संसार की स्वतंत्रता का हनन नहीं बल्कि प्रसार होता है। आलोचना बहुआयामी होती है। व्यापक बनती है। उसका एकांगीपन दूर होता है। आज जो आलोचना केवल विश्वविद्यालयी छात्रों तक सीमित है, उसका प्रसार होना बहुत जरूरी है। जनतंत्र के विकास के लिए आलोचना में असहमतियाँ हो सकती हैं। मार्क्सवादी आलोचना पद्धति अथवा नामवर सिंह या मैनेजर पांडेय के आलोचना-कर्म की कमजोरियों को पांडेय शशिभूषण ‘शीतांशु’ प्रदर्शित करते हैं तो उनसे गुजरना जरूरी है। उनके तर्कों, तथ्यों और प्रमाणों का विवेचन करने के बाद सहमति-असहमतियाँ उभर सकती हैं। संवाद कायम हो सकता है। ऐसा होने पर हिंदी आलोचना की स्वस्थ परंपरा विकसित हो सकती है।

समकालीन हिंदी आलोचना के लिए एक गंभीर चुनौती है कि इसे अभिजन संस्कृति का हिस्सा बनाने का प्रयास हो रहा है। आम आदमी और उसके सरोकारों

से आलोचना को असंपृक्त रखने का प्रयास भी जारी है। उस आलोचना का भला क्या हो सकता है जिसमें सामान्य मनुष्य को नजरअंदाज किया गया हो। यदि आलोचना को सार्थक बनाना है तो अपने समय और समाज के हलचलों के बारे में सजग रहकर रचना-कर्म करना जरूरी है। भारतेंदु युग से लेकर प्राक्-स्वातंत्र्य-युगीन आलोचना ने स्वाधीनता आंदोलन से प्रेरणा ली थी। स्वाधीनता को केंद्रीय मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया गया था। मार्क्सवादी आलोचना ने किसानों और मजदूरों के आंदोलन से प्रभावित होकर जनपक्षधरता को साहित्य के मूल्यांकन का आधार बनाया था। इसलिए सामाजिक आलोचना के विविध रूपों को उजागर करना आवश्यक है। आलोचना समाज-केंद्रित हो तो पूरे समाज की उपस्थिति विसंगतियों के साथ सामने आएगी। आलोचना व्यक्ति-केंद्रित होने से उसे ‘ठकुरसुहाती’ या ‘रक्तरंजित’ होने की संभावना रहती है। इस संदर्भ में रामविलास शर्मा का एक कथन है जिसमें उन्होंने सामाजिक उपयोगिता को महत्त्व देते हुए कहा था “कोई रचना मेरे सामने हो तो सबसे पहले तो मैं यह देखूँगा कि उसके पीछे लेखक की दृष्टि क्या है? वह सामाजिक विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाती है या उसमें रोड़े अटकाती है। इस लिहाज से उपयोगी हुई तो मैं उसकी विशेषताएँ बताऊँगा और अगर समाज को अस्वस्थ करनेवाली चीज हुई तो मैं पूरे जोर से उस पर आक्रमण करूँगा और उसमें दो-एक खासियतें भी हों तो उनकी चर्चा की मुझे जरूरत नहीं। जैसे, अगर मान लीजिए, आज कोई नायिका-भेद की कविता लिखे और उसमें सुंदर-सुंदर शब्द, कल्पनाएँ ले आए तो आज जमाना तो है नहीं, नायिका-भेद का, इसलिए उसमें कैसी कलात्मक खासियतें हैं, यह चर्चा करने की मैं जरूरत नहीं समझता।” (मेरे साक्षात्कार, पृ. 287) कहा जा सकता है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जिस लोकमंगल की बात कही थी, उसका प्रतिफलन रामविलास शर्मा के यहाँ समाज के लिए उपयोगी के रूप में हुआ है। मैनेजर पांडेय इसे सामाजिकता के नाम से आख्यायित करते हैं।

राजनीति की आलोचना एक मामूली बात है। यह जनतंत्र को बनाए रखने के लिए आवश्यक भी है। लेकिन आलोचना की राजनीति एक गंभीर समस्या है। आज आलोचना एक माध्यम बनी हुई है। किसी को उखाड़ने या स्थापित करने के लिए आलोचना को माध्यम बनाया जा रहा है। रचना के मर्म को थाहने का प्रयास बहुत कम हो रहा है। लेखक एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप करते हैं। चढ़ाने-गिराने की राजनीति खूब जोरों पर चल रही है। व्यक्तिगत द्वेष आलोचना-कर्म में प्रबल रूप से दिखाई पड़ते हैं। रचना में राजनीति लुक्कायित दशा में रह सकती है। आलोचना में उसे खुलकर आना चाहिए। इस संदर्भ में मैनेजर पांडेय कहते हैं “प्रायः महत्त्वपूर्ण रचनाकार अपनी रचनाशीलता की राजनीति को छुपाने की उतनी कोशिश नहीं करते जितनी कुछ आलोचक करते हैं। जो आलोचक अपनी राजनीति छिपाते हैं, उनकी आलोचना में भी राजनीति किसी-न-किसी रूप में प्रकट हो जाती है। रचना में

राजनीति छिपकर आ सकती है, लेकिन आलोचना में उसे साफ तौर पर आना ही चाहिए।” (आलोचना की सामाजिकता, पृ. 21) स्पष्ट किया जाना जरूरी है कि आलोचना की राजनीति हितकर नहीं है, लेकिन आलोचना में राजनीति का उल्लेख अनुचित नहीं है।

आज आलोचना से संबंधित अधिकांश प्रकाशित पुस्तकों के पन्ने पलटकर स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है कि उनमें समय-समय पर विभिन्न विषयों, विधाओं पर लिखे गए प्रकाशित लेखों या निबंधों का संग्रह किया गया है। इससे कई अंतर्विरोध सामने तो आते ही हैं। साथ ही पूरी पुस्तक का विवेचन करने के बाद कोई दृष्टि खुलकर सामने नहीं आ पाती है। आलोचना संबंधी वे भी पुस्तकें सामने आती हैं जिसे पी-एच.डी. आदि डिग्री हेतु शोध-प्रबंध के रूप में प्रस्तुत किया गया था। सभी जानते हैं कि शोध का स्तर क्या है? इसलिए जब तक गंभीर अध्ययन न हो, आलोचना संश्लिष्ट रूप से लिखी न जाए, तब तक आलोचना के सामने गंभीर चुनौती खड़ी मिलेगी। दरअसल, फास्ट फूड, फास्ट कल्चर की सभ्यता ने आलोचना जगत को गहरे रूप से प्रभावित किया है।

समकालीन हिंदी आलोचना शिविरों में बँटी आलोचना है। प्रत्येक शिविर का आलोचक खास चश्मे से चीजों को देखता आ रहा है। जो उसके अनुसार फिट हो गया वह श्रेष्ठ और शेष कूड़ा-करकट। कई बार ऐसा भी होता है कि अपनी विचारधारा से प्रेरित रचना को ही महान साबित करने का प्रयास होता है। ऐसी परिस्थिति में अगर आलोचक अपने विचारों को व्यापक मानव-समाज के अनुभवों से प्राप्त विचारों से न जोड़ ले तो खतरे दिखाई पड़ते हैं। अतः आलोचक किसी रचना को एक साँचे में डालकर रचना के अंगों को न काटे, बल्कि रचना की गहराई में पहुँचकर उसके निहितार्थों को समझने की कोशिश करे; ईमानदारी के साथ मूल्यांकन करे। न तो उसे लाभ की उम्मीद रहे और न लोभ की। आलोचना के लिए अनुभव, अनुभव से प्राप्त विचार और वैज्ञानिक सूझ-बुझ का समन्वय स्थापित कर पाना भी एक चुनौती है। उत्तर आधुनिक काल में साहित्य खंडों में बँटा हुआ है। विमर्शों की भागमभाग है। वह वैश्विकता की ओर उन्मुख है। सवाल यह है कि हिंदी आलोचना की देशीयता को कैसे सुरक्षित रखा जाए? पुनः देशीयता और वैश्विकता के बीच संतुलन कैसे बनाया जाए? आचार्य शुक्ल का रचना-संसार इस संबंध में हमारा दिशा-निर्देश कर सकता है। उन्होंने हिंदी आलोचना को संस्कृत काव्यशास्त्र तथा पाश्चात्य आलोचना शास्त्र के प्रभावों से मुक्त किया तथा उसे एक नई पहचान दी। बड़ा सवाल यह है कि क्या आज के दौर में ऐसा कोई आलोचक उभरेगा?

समकालीन आलोचना के सामने भाषा की चुनौती भी महत्वपूर्ण है। समकालीन हिंदी आलोचना की भाषा का स्वरूप कैसा हो? कठिन-से-कठिन क्लिष्ट भाषा, तत्सम

प्रधान भाषा, अँगरेजीदाँ भाषा, आम बोलचाल की भाषा अथवा किसी अन्य भाषा-रूप का प्रयोग हो? ये सवाल इसलिए कि आज की हिंदी आलोचना में उपर्युक्त सभी भाषा-रूपों का प्रयोग हो रहा है। क्लिष्ट भाषा के प्रयोग से आलोचक की विद्वत्ता जाहिर होती है तो अभिजन संस्कृति का निदर्शन भी हो जाता है। अँग्रेजीदाँ भाषा से ज्ञान के आतंक से भीतत्रस्त किया जा सकता है। समकालीन हिंदी आलोचना को समाज से जोड़ना है तो उसकी भाषा आमजन की भाषा होनी चाहिए। लेकिन, कुछ लोगों का तर्क हो सकता है कि आलोचना की अपनी गरिमा होती है। उसका अपना शास्त्र है। अतः उसकी भाषा में गांभीर्य होना चाहिए। बहरहाल, इस समस्या अथवा चुनौती का समाधान न प्रस्तुत करते हुए केवल कुछ उदाहरण पेश किए जा रहे हैं। ये सभी उदाहरण समकालीन हिंदी आलोचना के महत्वपूर्ण हस्ताक्षरों के हैं ताकि सहृदय पाठक स्वयं आलोचना की भाषा का चयन कर सकें

- (क) “Intertextuality के जमाने में सिर्फ मूर्ख ही दलित को कबीर में ढूँढ़ सकते हैं Geneological Deconstruction की यह खास बात है कि दलित कबीर की किताब में भले न हो, लेकिन Geneology के वर्तमानत्व और दलितवाद के युद्ध में कबीर एक प्राथमिक Text हो सकते हैं।”
- (ख) “मिथक और अप्सरा कथा, निजंघर और अन्योपदेश के दो युगल परस्पर अनुस्यूत हैं। मिथक और दिवा-स्वप्न दोनों ही विधा स्वप्नमूलक होती है पहली में स्वप्न का तथा दूसरी में वैयक्तिक स्वप्नों का अन्वयन होता है। द्रंढ न्याय की दृष्टि से मिथक और दिवा-स्वप्न में वाद (थीसिस) से सीधे समरूपता की ओर अग्रसर होता है।”
- (ग) “इसमें कोई शक नहीं कि ‘कामायनी’ के प्रतीक एक हद तक छायावादी आवरण से ढँके हुए हैं, लेकिन दूसरी ओर उनमें अपने युग की जीवंत समस्याओं का स्पंदन है। प्रसाद ने अपने युग की वास्तविकता को इतने व्यापक सामाजिक परिवेश में तथा भावना के गहरे स्तरों के साथ चित्रित किया है कि इन प्रतीकों में युग-युग को रस-मग्न और प्रेरित करने की क्षमता आ गई है।”
- (स) “पांडेय जी को विचलन शब्द से चिढ़ है। विचलन केवल साहित्य में नहीं, जीवन में भी होता है। जहाँ भी निर्धारित मर्यादा का खंडन है, वहाँ विचलन है, चाहे वह जीवन का व्याकरण हो या भाषा का व्याकरण। बिना इसके काव्य-तत्त्व आ ही नहीं सकता। यह एक स्वयंसिद्ध कथन है।”

आलोचना को सभ्यता-समीक्षा या सांस्कृतिक समालोचना के रूप में विकसित करना एक बड़ी चुनौती है। साहित्यिक कृतियाँ भावों और मूल्यों के साथ विचारों को

वहन करती हैं। ये कृतियाँ विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना का निर्माण करती हैं। आलोचना रचनाकार की दृष्टि तलाशती है उसकी कृति के माध्यम से। इसलिए आलोचना को 'आत्मसजग सांस्कृतिक रणनीति' का हिस्सा कहा जाता है। साहित्य और जीवन के मध्य एकत्व स्थापित करने की चिंता अहम हो जाती है। ऐसी चिंता मुक्तिबोध की भी थी। वे निरंतर साहित्यिक यथार्थ एवं जीवन-यथार्थ के बीच की दूरी की पाटने में लगे रहे। आज भले ही विचार के अंत की घोषणा जोर-शोर से हो रही हो; लेकिन मुक्तिबोध की कविता हमें आश्वस्त करती है

*“नहीं होती कहीं भी खत्म कविता नहीं होती
कि वह आवेग त्वरित कालयात्री है
व मैं उसका नहीं कर्ता
पिता-धाता
कि वह कभी दुहिता नहीं होती
परम स्वाधीन है वह विश्वशास्त्री है।”*

असहमति, संवाद एवं बहुवाचिकता का अभाव समकालीन आलोचना को दिग्भ्रमित कर सकता है। उल्लेख किया जा चुका है कि असहमतियाँ दर्ज कराने का साहस होना लोकतंत्र का बड़ा मूल्य है। इस मूल्य की रक्षा एक बड़ी चुनौती है। आलोचक को 'आँखन देखी' कहने के भय से मुक्त होना आवश्यक है। अकेले पड़ जाने का डर उसे न सताए। विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने कहा है “जदि केउ डाक सुने तोर ना आसे तबे एकला चलो रे।” खुश करके खुश होने की नीति सच्चे आलोचक की नहीं होती है। बकौल नामवर सिंह “आलोचना अपने समय की बौद्धिकता की उपस्थिति है।” यह बौद्धिकता आत्मसजग है। इस आत्मसजगता से चुनौतियों का सामना किया जा सकता है। आलोचक सृजनशील भी होता है। वह अपने समय, समाज और संस्कृति के ताने-बाने से उलझता है, उलझकर कुछ हासिल करता है। हासिल की गई चीज को जन के समक्ष रखता है। ऐसा कर पाने से न तो वह किसी तंग घेरे में उलझता है और न दूसरों को उलझाता है।

हमारा समय भयावह है। एक ओर भय है तो दूसरी ओर प्रलोभन। एक ओर पराधीनता है तो दूसरी ओर सम्मोहन। रचना का ही नहीं मनुष्य जाति तक का व्यवसायीकरण होने लगा है। संस्कृति के इतिहास में इससे बड़ी दुर्घटना और क्या हो सकती है? साहित्य, संस्कृति, मानवीय संबंध सभी प्रॉडक्ट बनकर रह न जाएँ, इसकी चिंता तथा इसका प्रतिरोध अत्यंत आवश्यक है। बाजारवादी अर्थव्यवस्था से पूरा समाज प्रभावित है, बुरी तरह से। आलोचना को उसके दुष्प्रभावों से बचा पाने की पुरजोर कोशिश होनी चाहिए। नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, शिवकुमार मिश्र,

निर्मला जैन, रमेश कुंतल मेघ, मैनेजर पांडेय, पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु', जबरीमल्ल पारख आदि की पीढ़ी ने उसके दुष्प्रभावों से अपने को बचा लिया है या फिर उसका विरोध किया है। खगेंद्र, ठाकुर, अजय तिवारी, रविभूषण, भगवान सिंह, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी आदि की पीढ़ी तमाम चुनौतियों से जूझ रही है। युवा ब्रिगेड जितेंद्र श्रीवास्तव, रोहिणी अग्रवाल, वैभव सिंह, प्रियम अंकित, आशीष त्रिपाठी, विनोद तिवारी, राजकुमार, पल्लव, राहुल सिंह, संजय कुमार, कृष्णमोहन, नीरज खरे आदि को भली-भाँति मालूम है कि समकालीन हिंदी आलोचना की चुनौतियों का सामना कैसे और किस तैयारी के साथ किया जाना चाहिए। उम्मीद ही नहीं भरोसा भी है कि युवा पीढ़ी के आलोचक समकालीन हिंदी आलोचना की चुनौतियों का साहसपूर्वक सामना करेंगे तथा हिंदी आलोचक जगत् को एक नया आकाश प्रदान करेंगे।

पाठकीय प्रतिक्रिया

'चिन्तन-स जन', जुलाई-सितम्बर 2012 आपका संपादकीय बड़ा प्रासंगिक और द गोम्पीलक (eye opener) है। एक राजनीतिक विचारक ने कहा था कि 'politics is a game of scoundrels' यही सही अर्थ में चरितार्थ हो रहा है। वे जनता का प्रतिनिधि वे बनते हैं और जनता का ही निरंतर शोषण करते हैं। यह प्रजातंत्र (लिनकन की परिभाषा के अनुसार) परतंत्र हो गया है, प्रजा गौण। आपका कहना वाजिब है कि “सरकार खैरात, आरक्षण आदि के नाम पर बोट की राजनीति करती है। जनता सदा हासिए पर है। ऐसा विशुद्ध राजनीतिक लाभ लेने के लिए किया जाता है।”

'हिन्दी उपन्यासों में भारतीयता' लेख में डॉ. आचार्य ने बताया है कि भारतीय साहित्य की भूमिका सांस्कृतिक अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रही है, बल्कि भारतीय चिन्तन के स जन में उसकी केंद्रीय भागीदारी है। रामायण और महाभारत प्रबल उदाहरण हैं। आचार्य जी के प्रकाण्ड पांडित्य की सुरभि कृष्णदत्त पालीवाल ने फैलाई है, 'रचना का अंतरंग' की समीक्षा द्वारा। आचार्य जी की मान्यता है कि “उत्तर संरचनावाद एक प्रकार की अनेकान्तवादी साहित्यिक सैद्धान्तिकी है।” (पृ.108) सभी रचनाएँ प्रेरक और दिशा-दर्शक हैं। सबको साधुवाद।

प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, धनबाद।

दूसरी परंपरा का विमर्श*

सुधीर कुमार**

प्रस्तुत लेख में हिंदी के मूर्धन्य आलोचक/चिंतक नामवर सिंह की महत्वपूर्ण पुस्तक “दूसरी परंपरा की खोज” (1982) में व्याख्यायित “परंपरा” के विमर्श का निम्न बिंदुओं के आधार पर आलोचनात्मक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है :

- (1) परंपरा क्या है? और “दूसरी” परंपरा क्या है?
- (2) क्या साहित्यकारों, चिंतकों, कलाकारों, संस्कृति-कर्मियों और आलोचकों को “पहली/महान” “परंपरा और दूसरी/लोकधर्मी परंपरा” जैसी कोटियों/श्रेणियों में विभाजित कर उनके अवदान/योगदान/कृतित्व का तथा तत्कालीन समाज और संस्कृति में उनके महत्वपूर्ण हस्तक्षेप का सही मूल्यांकन संभव है?
- (3) क्या परंपरा, संस्कृति, धर्म और साहित्य/कला के विमर्शों की पारस्परिक समावेशी प्रकृति भारतीय लोकचेतना की प्रमुख पहचान नहीं है?
- (4) क्या सैद्धांतिकी (थियरी) अथवा आलोचना की समग्रतावादी दृष्टि तार्किक रूप से और सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्वहीन है या हो चुकी है? क्या साहित्यिक आलोचना में खंडित विमर्शों/अन्य-परंपराओं के परस्पर द्वंद्व और संघर्षों का ही अन्वेषण/पुनरान्वेषण समीचीन है?
- (5) क्या परंपरा से ही, उसके लोकोन्मुख/लोकपरक मूल्यों के अंतर्द्वंद्वों, संघर्षों विरोधाभासों, सामंजस्यों, सह-संबंधों के विभिन्न कालसंवेदी रूपों से ही परंपरा के अनुपयोगी, निकृष्ट और अनैतिक स्वरूपों का पतन/क्षय होता है और इस प्रकार परंपरा अपने नए संस्कारित स्वरूप में पुनः प्रवाहित होती है?

* दूसरी परम्परा की खोज, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1982

**सुधीर कुमार (प्रोफेसर अंग्रेजी तथा विभागाध्यक्ष डी.ई.एस मल्टीडिप्लिनरि रिसर्च सेंटर) पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ (भारत) 160014। दुरभाष: 09876675149। ई-मेल: Kumarsudhir_pu@rediffmail.com; निवास: एफ-27, सेक्टर-25, चंडीगढ़-160014

I. परंपरा का चिंतन/ चिंतन की परंपरा

नामवर सिंह जी कृत “दूसरी परंपरा की खोज” का पाठ करते हुए एक आम पाठक भी, सर्वप्रथम इस बात की ओर आकृष्ट होता है कि आखिरकार यह “पहली” परंपरा कौन-सी है?, और क्या इस पहली परंपरा के विलुप्त होने पर, या बीत जाने पर ही एक सर्वथा नवीन “दूसरी” परंपरा का प्रादुर्भाव होता है? उसकी “खोज” संपादित होती है समालोचकों और चिंतकों की कृतिओं में चाहे परंपरा लोकसमुदाय में एक प्रवाह के रूप में, व्यष्टि-समष्टि में अंतर्भुक्ति काल-चेतना के रूप में, जिसकी उपस्थिति कला, साहित्य, संगीत, लोक-मिथकों, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सांस्कृतिक संस्थाओं और आख्यानों में दर्ज रहती हो पहले से ही और अनवरत क्रम से!! यही कारण है एक सुधी पाठक को किंचित निराशा होती है कि हिंदी आलोचना के स्तंभ कहे जाने वाले विद्वान श्री नामवर सिंह की उक्त पुस्तक में परंपरा के तात्त्विक विश्लेषण पर आधारित आलेख “दूसरी परंपरा की खोज” में “परंपरा” “परंपरा की खोज” और “दूसरी परंपरा” जैसे गंभीर, गहन विषयों को मात्र नौ पृष्ठों में (आश्चर्य है कि यह उक्त पुस्तक का सबसे छोटा लेख है!!) निबटा दिया गया है, यहाँ पृष्ठ-संख्या को गुणवत्ता के मानक के तौर पर स्थापित करने का हास्यास्पद प्रयास नहीं किया जा रहा है। आइए, लेख के प्रमुख बिंदुओं की चर्चा करें।

प्रश्न यह है कि नामवर जी ने परंपरा-बोध का कैसा विमर्श ‘दूसरी परम्परा की खोज’ में पाठक के सम्मुख रखा है? अपनी “भूमिका” में वे स्पष्ट करते हैं “परंपरा के समान खोज भी एक गतिशील प्रक्रिया है। ...इसमें न पंडित जी की कृतिओं की आलोचना है, न मूल्यांकन का प्रयास। अगर कुछ है तो बदल देने वाली उस दृष्टि के उन्मेष की खोज, जिसमें एक तेजस्वी परंपरा बिजली की तरह कौंध गई थी। उस कौंध को अपने अंदर से गुजरते हुए जिस तरह मैंने महसूस किया, उसी को पकड़ने की कोशिश की है। सफल कहाँ तक हो सका, इसका उत्तर परंपरा की ‘दूसरी खोज’ ही देगी। संभव है, इसमें मेरी अपनी खोज भी मिल जाए!” (पृ. 8). यहाँ यह द्रष्टव्य है कि नामवर जी ने पुस्तक की भूमिका में ही “दूसरी” परंपरा जिसे वे द्विवेदी की “बदल देनेवाली दृष्टि के उन्मेष” के रूप में दर्शाते हैं के साथ ही “परंपरा की दूसरी खोज” को अभिन्न रूप से संयोजित किया है। ऐसा तो नहीं कि नामवर जी प्रच्छन्न रूप से इलियट के 1919 में प्रकाशित परंपरा-विमर्श के एक महत्वपूर्ण आलेख से प्रभावित रहे हों जिसमें कि ‘वर्तमान’ के द्वारा ‘अतीत’ का उसी प्रकार प्रत्याख्यान किया गया है जैसे कि ‘वर्तमान’ का ‘अतीत’ के द्वारा! (देखें पृ. 24 ‘Tradition and the Individual Talent in T.S. Eliot: Selected Prose’)²:

“...the past should be altered by the present as much as the present is directed by the past.”

परंपरा इलियट के अनुसार एक “महाख्यान” (Grand Narrative) न होकर समाजों और संस्कृतियों में इतिहास-बोध के मूलभूत तत्त्व के रूप में उपस्थित रहती है “This historical sense, Which is the sense of the timeless as well as of the temporal and of the timeless and of the temporal together is what makes a writar Traditional.” (p.23).

अतः आचार्य रामचंद्र शुक्ल के तुलसी तथा कबीर उसी परंपरा-प्रवाह, उसी इतिहास-बोध से उद्भूत दो जीवन-दृष्टियाँ हैं जिन्हें न तो आचार्य शुक्ल ने, न आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ही “पहली” और “दूसरी” परंपरा के प्रतीक के रूप में देखा है। फिर नामवर जी ने आचार्य हजारीप्रसाद और गुरुदेव टैगोर के विधवा-विवाह को लेकर हुए एक संवाद का (1930) उदाहरण देते हुए “परंपरा” के “खंड-खंड” होने की बात कही है

“जिस परंपरा को अब तक वे अखंड समझते आ रहे थे, देखते-देखते शिवधनुष के समान खंड-खंड हो गई। लगा कि परंपरा और भी हो सकती हैं। एक तरह से यह इतिहास-बोध का उदय था।” (पृ. 11)।

पुनःश्च नामवर जी इसी आलेख में इस “दूसरी परंपरा” का प्रमुख उद्देश्य/लक्षण “जाति धर्म-निरपेक्ष मानव की प्रतिष्ठा” बताते हैं और कबीर के माध्यम से यह स्थापित करते हैं कि “एक प्रकार से यह दूसरी परंपरा है।”

इस “दूसरी” परंपरा का एक और उद्देश्य “विश्व दृष्टि” नामवर जी के अनुसार है। “आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि” तथा “लोक-जीवन से लगाव” इसी दूसरी परंपरा के अन्य महत्वपूर्ण लक्षण हैं। परंपरा या इसी “दूसरी परंपरा” के नामवर जी के अनुसार, प्रतीक द्विवेदी जी के कबीर हैं तो वही महान या पहली परंपरा में, शुक्ल जी के अनुसार, तुलसीदास जी “लोकधर्म के प्रतीक” हैं। उपसंहार में नामवर जी यह निष्कर्षतः कहते हैं कि हिंदी साहित्य की इसी “दूसरी परंपरा” के कारण हिंदी साहित्य की “लोकोन्मुख प्रगतिशील परंपरा” का विकास संभव हुआ है (पृ. 19)।

यद्यपि नामवर जी ने टी.एस. इलियट को अपनी “दूसरी” परंपरा के विमर्श में उद्धृत नहीं किया है, फिर भी इलियट का परंपरा-चिंतन उनके लेख में बारंबार प्रकट होता है। 1934 में प्रकाशित अपनी पुस्तक “आफ्टर स्ट्रेंज गॉड्स (After Strange Gods)” में इलियट परंपरा को रूढ़िगत, या रूढ़िबद्ध सामाजिक/सांस्कृतिक रीतियों और विचारों का पर्याय नहीं मानते हैं; बल्कि परंपरा की गत्यात्मकता, क्रियाशीलता और व्यापकता पर विशेष बल देते हुए उसे (परंपरा) मानव-जीवन-दृष्टि, दर्शन और जीवन-पद्धति का समावेशी विमर्श मानते हैं

“Tradition is not solely, or even primarily, the maintenance of certain dogmatic beliefs... What I mean by tradition involves all those habitual actions, habits and customs, from the most significant religious

rite to our conventional way of greeting a stranger, which represent the blood kinship of 'the same people living in the same place'... nor should we cling to tradition as a way of asserting our superiority over less favoured peoples. What we can do is to use our minds, remembering that a tradition without intelligence is not worth having, to discover what is the best life for us not as a political abstraction, but as a particular people in a particular place; what in the past is worth preserving and what should be rejected; and what conditions, within our power to bring about, would foster the society that we desire.” (pp. 20.22) (emphasis mine).

स्पष्ट है कि परंपरा-ग्रहण-प्रक्रिया मानवीय विवेक और बुद्धि (जिसे नामवर जी ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की कबीर जी के कृतित्व की समीक्षा के माध्यम से अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किया है) की महत्वपूर्ण भूमिका है, क्योंकि इसी विवेक/बुद्धि के माध्यम से परंपरा (अथवा आधुनिकता के भी) के अंदर से ही निरंतर चलने वाली, क्रियाशील या गत्यात्मक सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक प्रक्रियाओं के अंतःसंबंधों के द्वारा, परंपरा का पुनरान्वेषण, पुनर्व्याख्या, प्रत्याख्यान (जिसे नामवर जी “दूसरी परंपरा” कहते हैं) और पुनर्प्रवाह संभव तथा संपादित होते हैं।

अकारण नहीं है कि अपने मूल अर्थों में “परंपरा” को, भारतीय दृष्टि के अनुसार, “अविच्छिन्न शृंखला, नियमित सिलसिला, आनुपूर्व्य, प्रणाली, क्रम, सुव्यवस्था”⁴ आदि का द्योतक माना गया है। यदि हम किसी भी समाज में एक समय या भिन्न-भिन्न काल-खंडों में विभिन्न रचनाकारों/कलाकारों/चिंतकों की कृतियों में प्रतिबिंबित परंपरा-विमर्श को नामवर जी की “दूसरी... तीसरी... परंपरा” की (विखंडित दृष्टि) दृष्टि से मूल्यांकित करने का प्रयास करें, तो हम ऋग्वैदिक काल से छठवीं शताब्दी ईसापूर्व तक ही, गिनती की सुविधा (?) की दृष्टि से पहली, दूसरी, तृतीय नहीं बल्कि अनंत, अनगिनत परंपराओं की महाखोज के आलोचनात्मक-प्रपंच (या परंपरा-प्रपंच?) में ही उलझकर रह जाएँगे। कहना न होगा कि आचार्य अमर्त्य सेन ने भारतीय चिंतन-परंपरा की अपनी बहुचर्चित, प्रसिद्ध पुस्तक “दि ऑर्गुमेंटेटिव इंडियन”⁵ (The Argumentative Indian) में भारतीय परंपरा की बहुकेंद्रिकता, बहुलार्थकता और समग्रतावादी दृष्टि को रेखांकित किया है। परंतु नामवर जी के “कबीर” और “तुलसी”, प्रकारांतर से नामवर जी आचार्य रामचंद्रशुक्ल के “तुलसी” एवं हजारीप्रसाद द्विवेदी के “कबीर” क्रमशः समीक्षात्मक सुविधा (?) की तरह, क्रमशः पहली और दूसरी (जिसे नामवर जी प्रगतिशील परंपरा कहते हैं) परंपरा के प्रमुख हस्ताक्षर हैं :

“अब यदि अपनी प्रगतिशील परंपरा को मजबूत बनाने के लिए किसी तरह दोनों आलोचकों को एक ही परंपरा के अंतर्गत रखने की विवशता ही हो, तो जरूरी

नहीं कि एक की परंपरा में ही दूसरे को भी रखा जाए? क्या यह नहीं हो सकता कि दो लेखक भिन्न परंपराओं से आकर प्रगतिशील परंपरा के विभिन्न अंगों को समृद्ध और विकसित करें?” (पृ. 19)।

इसी उपर्युक्त आलोचनात्मक दृष्टि के अंतर्गत नामवर जी शुक्ल जी के लोक-धर्म के प्रतीक “तुलसी” बनाम द्विवेदी जी के लोक-धर्म के नायक/प्रतीक “कबीर” जैसी परस्पर विरुद्ध कोटियों का निर्माण कर उन्हें (प्रथम) परंपरा तथा दूसरी परंपरा के प्रतीक के रूप में स्थापित करने का प्रयास करते हैं। यदि हम कबीर और तुलसी के कृतित्व को, उनके साहित्य में प्रतिबिंबित “सामाजिक आदर्श” को सामने रखकर, चिंतन करें तो हमें यह पता लगता है कि कबीर और तुलसी दोनों ने अपने कृतित्व में “लोकधर्मी परंपरा” (जिसे नामवर जी दूसरी/प्रगतिशील परंपरा कहकर तुलसी और कबीर दोनों का परस्पर-विरोधी ठहराते हुए परंपरा की गणनापरक कोटियों में कैद करते प्रतीत होते हैं!) का अपने काव्यात्मक विवेक या अपनी-अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के द्वारा, निर्वहन और पुनराख्यान किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक “हिंदी साहित्य का इतिहास” में दोनों महाकवियों (कबीर तथा तुलसी) को हिंदी साहित्य की “परंपरा” में ही साथ-साथ रखा है। आचार्य शुक्ल की समग्रतावादी दृष्टि में परंपरा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रत्यय है “धर्म”; अतः वे “धर्म” की समग्रतावादी अवधारणा की व्याख्या करते हुए कहते हैं :

“धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति, इन तीन धाराओं में चलता है। इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है। किसी एक के भी अभाव में वह विकलांग रहता है।”⁶

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार कबीरदास जी (व अन्य भक्त कवियों के संदर्भ में भी) की काव्य-प्रतिभा के द्वारा भारतीय परंपरा (या संस्कृति) या साहित्यिक परंपरा में समन्वयवादी, लोकपरक जीवन-दृष्टि भक्तिकाव्य के माध्यम से प्रकट हुई जैसा कि आचार्य शुक्ल ने बार-बार “हिंदी साहित्य का इतिहास” में रेखांकित किया है :

“कालदर्शी भक्तकवि जनता के हृदय को संभालने और लीन रखने के लिए दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विकसित और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिंदू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गए! प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेद-भाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया (पृ. 35)।”

कबीरदास जी की समन्वयवादी सांस्कृतिक चेतना ने लोक-भाषा तथा सधुक्कड़ी शैली का प्रयोग करते हुए ‘वेदांत’ तथा ‘सूफी इस्लाम’ इन दोनों जीवन-दृष्टियों का संयोजन अपने काव्य में किया। आचार्य शुक्ल के अनुसार “कबीर ने जिस प्रकार

निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदांत का पल्ला पकड़ा, उसी प्रकार निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए सूफियों का प्रेमतत्त्व लिया और अपना ‘निर्गुण पंथ’ धूमधाम से निकाला।” (पृ. 36) पुनः श्च शुक्लजी ने कबीरदास के काव्य-प्रतिभा की सामासिकता और समग्रता का उल्लेख करते हुए कहा :

“जो ब्रह्म हिंदुओं की विचार-पद्धति में ज्ञानमार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं, प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। उनकी बानी में ये सब अवयव स्पष्ट लक्षित होते हैं। ...उपासना के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करने वाले और कर्मकांड को प्रधानता देने वाले पंडितों और मुल्लों दोनों को उन्होंने खरी-खोटी सुनाई और राम-रहीम की एकता समझकर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया। देशाचार और उपासना-विधि के कारण मनुष्य-मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयास उनकी वाणी बराबर करती रही।” (पृ. 43-44)।

आश्चर्य की बात यह है आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कबीर जी के काव्य में प्रकट हुए “राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना की एकता के सूत्रों” को बड़ी खूबी और आलोचनात्मक औदार्य तथा विवेक के साथ प्रस्तुत किया यह वही भारतीय परंपरा है जो अथर्ववेद⁷ के पृथ्वी सूक्त में “माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः”, “जंनं ब्रिभती बहुधा विवाचसम् नाना धर्मापं पृथिवी यथौकसम्” (अर्थात् “यह धरती हमारी माता है, और हम सब उसके पुत्र हैं”, “अनेक प्रकार की धार्मिक मान्यता वालों और विभिन्न भाषा-भाषीजन-समुदाय को एक परिवार के रूप में आश्रय देने वाली अविनाशी और स्थिर स्वभाव वाली पृथ्वी”), सम्राट अशोक के शिलालेखों⁸ तथा स्तंभलेखों में, महात्मा बुद्ध के धम्मपद⁹ में, तथा गाँधीजी के हिंद स्वराज¹⁰ (1909) में अपने विभिन्न रूपों में लोक-जीवन में धार्मिक-सांस्कृतिक (धार्मिक या नैतिक मूल्य आधारित परंपरा के अर्थ में) चेतना के प्रमुख आधार का निर्माण करती है। आचार्य शुक्ल के द्वारा कबीरदास जी को भारतीय परंपरा के प्रतीक के रूप में ही चित्रित किया गया है फिर भी नामवर जी का यह कहना है कि, “उनके लिए कबीर का महत्त्व ‘इतिहास’ तक ही सीमित रहा; और इतिहास में भी कबीर के प्रति सम्मान या सहानुभूति का भाव नहीं दिखता। ...उनकी उक्तियों में... कवित्व भी है यह शुक्ल जी ने कहीं नहीं कहा है।” (पृ. 43)

एक सुधी पाठक का आचार्य रामचंद्र शुक्ल के कबीरदास जी की काव्य-भाषा और शैली को लेकर मतभेद हो सकता है किंतु कबीरदास जी की विद्रोही चेतना को तो उसी प्रकार की विद्रोही भाषा स्वीकार्य थी क्योंकि उनका लोक से या जन-सामान्य से संवाद का माध्यम उनकी “अशिष्ट” भाषा ही थी। परंपरा में यदि विद्रोह,

विभिन्नता, बहुलता की अभिव्यक्ति नहीं संभव है, तो वह मृत परंपरा ही रहेगी। अतः कबीर और तुलसी दोनों ही लोक-चेतना पर व्यापक प्रभाव डालते हैं अपने विशिष्ट व्यक्तित्व और कृतित्व के द्वारा वे दोनों ही समय के साथ पूरमपूर संवाद करते हैं। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि समाज, संस्कृति और परंपरा के वर्ग-विभेद पर आधारित साहित्यिक-सांस्कृतिक सैद्धांतिकी के नववामवाद के प्रकांड पंडित/आचार्य रेमंड विलियम्स ने सर्वप्रथम 1977 में प्रकाशित अपनी पुस्तक “मार्क्सिज्म एंड लिटरेचर”¹¹ में “संस्कृति” के तीन गतिशील, परस्पर संबंधित स्वरूपों की चर्चा की (वर्चस्ववादी or Dominant, पुरातनवादी or Residual, तथा Emergent or वैकल्पिक जिसे दूसरी संस्कृति भी कहा जा सकता है) है जिसमें वैकल्पिक स्वरूप में भी संस्कृति (जिसे परंपरा भी कहा जा सकता है) वर्चस्ववादी तथा पुरातनवादी विमर्शों से संयुक्त/प्रभावित रहती है। अतः नामवर जी द्विवेदी जी के परंपरा-विमर्श की उस समन्वयात्मक दृष्टि की ओर संकेत करते हैं जिसकी नींव “विविधता, जटिलता, परस्पर विरोधी जीवंतता और समृद्धि” पर टिकी है (देखिए पृ. 90)।

प्रश्न यहाँ यह है कि यदि आचार्य द्विवेदी तुलसीदास को कबीरदास से अलग करते हुए दोनों को पृथक-पृथक परंपरा के विमर्शों में बंदी बनाना चाहते हैं तो क्या यह समालोचना या साहित्य का सत्य या धर्म कहा जा सकता है? या “परंपरा” को आलोचनात्मक प्रपंच के द्वारा गणितीय पद्धति से खंड-खंड करने का जादुई करिश्मा द्विवेदी जी का नहीं बल्कि उनके ही शिष्य नामवर सिंह जी का है!! उदाहरणार्थ, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने “रामचरितमानस” को “दिव्य प्रेरणा की अप्रतिम ग्रंथ”¹² कहा है। वे कहते हैं :

“आज से चार सौ वर्षों में यह ग्रंथ देश और काल की सीमा का अतिक्रमण करके संसार में समादृत हुआ। यह सच्चे अर्थों में कालजयी ग्रंथ है।...यह संदेह था कि जो ब्रह्म सब प्रकार की धारणाओं के ऊपर है, व्यापक है, निर्गुण है, अजन्मा है ...वह क्या मनुष्य के रूप में अवतार ग्रहण कर सकता है? इस संदेह का उन्मीलन तुलसीदास का एक लक्ष्य था। यह एक सामयिक प्रश्न था। तुलसीदास के पूर्ववर्ती महान निर्गुणवादी संतों ने सगुण राम का प्रत्याख्यान किया था और लोकचित्त में ऐसा संशय उत्पन्न किया था। ...इस द्वंद ने तुलसीदास के संवेदनशील चित्त को केवल खंडन-मंडन की ओर प्रवृत्त नहीं किया, बल्कि उनकी रचनात्मक प्रतिभा को झंकृत कर दिया, जिससे शाश्वत मानवीय मूल्यों का अद्भुत रागात्मक सृजन हुआ।” (द्विवेदी, भाषा पृ. 78-79)।

निर्गुण तथा सगुण के पारस्परिक किंतु आभासी द्वंद को तुलसीदास जी ने रामचरितमानस की लोकोन्मुखी सांस्कृतिक-आध्यात्मिक दृष्टि व दर्शन के अद्भुत समन्वयात्मक संदेश के द्वारा एकत्व के सूत्र में समाहित किया :

“नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी।।
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी।।”¹³

“नाम और रूप की गति की कथा अकथनीय है। वह समझने में सुखद है परंतु उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। निर्गुण और सगुण के बीच में नाम सुंदर साक्षी है और दोनों का यथार्थ ज्ञान करानेवाला चतुर दुभाषिया है।”

अतः द्विवेदी जी के राम भी कबीरदास के निर्गुण राम की भाँति (तथा द्विवेदी जी और नामवर जी के निर्गुण राम की तरह ही) लोक-चेतना पर “नाम” के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं चाहे नाम को सगुण या मूर्त रूप में देखा जाए या उसे अमूर्त या निर्गुण रूप में। यही परंपरा का सगुण और निर्गुण स्वरूप भी है जिसमें परस्पर द्वंद तो है पर वह आभाषी है ज्ञान अथवा आत्मज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् इन दोनों का तिरोहन शाश्वत सत्य/परम अर्थ/ में होता है। अतः द्विवेदी कहते हैं कि “लोकचित्त में प्रतिष्ठित इस राम को जनता के दैनंदिन संघर्षों और विषम परिस्थितियों के भीतर से पूर्ण ब्रह्म के रूप में प्रकाशित करना तुलसीदास की कठिन साधना थी। एक ओर जहाँ राम परात्पर ब्रह्म हैं, वहीं दूसरी ओर वे सहजभाव से जनता के अपने प्रतिनिधि भी हैं।” (द्विवेदी भाषा...पृ. 81)।

अतः कबीर के निर्गुणिया ब्रह्म स्वरूप ‘राम’ तथा तुलसीदास के सगुणिया दाशरथि ‘राम’ भारतीय लोक परंपरा के अभिन्न, अविच्छिन्न अंग ही हैं और इन स्वरूपों का आभाषी संघर्ष/विरोध/विद्रोह इन्हें पृथक-पृथक परंपराओं के पिंजड़ों में कैद नहीं करता। यह बात और है कि निर्गुण-सगुण “राम तत्त्व” किसी अति गुणी साहित्यिक आलोचना के हाथ लग जाए और तत्पश्चात् उसी अविच्छिन्न परंपरा को खंड-खंड करते हुए वही आलोचक अपनी अंकगणितीय परंपरा-दृष्टि से मूल्य-बोध को परस्पर विद्रोही कोटियों या श्रेणियों में बद्ध कर दे। भारतीय परंपरा के इसी समग्रतावादी, समन्वयवादी विमर्श के बारे में द्विवेदी जी कहते हैं :

“भारतवर्ष बहुत विशाल देश है, इतिहास की दृष्टि से भी और भूगोल की दृष्टि से भी। इसकी साहित्यिक परंपरा भी विशाल और अपने ढंग की निराली रही है। संसार में प्राचीन सभ्यता वाले देश अनेक हैं। पर ऐसी अविच्छिन्न धारावाहिक प्राचीन साहित्यिक परंपरा, जो आज भी जीवंत प्रेरणा का स्रोत बनी हुई है, किसी दूसरे देश के पास नहीं है। इस दिशा में भारतवर्ष की साहित्यिक परंपरा अनुपम और अद्वितीय है। ऐसी विशाल, अटूट और जीवंत चिंतन-धारा को थोड़े में कह सकना कठिन है। पर सौभाग्यवश कठिन होने पर भी वह असंभव नहीं है।” (द्विवेदी : भाषा पृ. 60)।

यदि द्विवेदी जी के कबीर किसी तथाकथित “दूसरी” परंपरा के प्रतीक होते तो क्या द्विवेदी जी पूर्वोक्त ढंग से भारतीय साहित्यिक परंपरा की अविच्छिन्नता, अखंडता,

तथा सतत प्रवाहमानता का वर्णन कर सकते थे? 1889 में प्रकाशित निबंध “साहित्य (Literature)”¹⁴ में गुरुदेव टैगोर ने साहित्यिक परंपरा की इसी अबाधित जीवन-शक्ति (जीवंतता) को अपनी विश्व-दृष्टि का केंद्र माना है इसी गत्यात्मक, क्रियाशील परंपरा को अर्जित अथवा ग्रहण करते हुए एक कालजयी लेखक/कलाकार/चिंतक साहित्य में शाश्वत अथवा सनातन सत्य/अर्थ की अभिव्यजना करने का प्रयास करता है।

भारतीय परंपरा/संस्कृति की इसी बहुकेंद्रिकता तथा समन्वयवादी जीवन-दृष्टि के कारण हमारी परंपरा ऐतिहासिकतावाद से, जैसा कि अज्ञेय ने कहा भी है, “आक्रांत होकर भी अपनी अस्मिता को टूटने से बचाए रख सकी।”¹⁵

उपसंहार

यह तो उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट ही है कि परंपरा की भारतीय दृष्टि में परस्पर विद्रोहों, विभिन्नताओं, संघर्षों और द्वंदों का समाहार उसकी समग्रतावादी किंतु बहुकेंद्रिक परंपरा विमर्श में होता है अतः जोतिबा फुले, अंबेडकर, राजा राममोहन राय, पंडित रमाबाई, बंकिमचंद्र चटर्जी, श्री अरविंद, काजी नजरूल इस्लाम, गाँधी, तिलक, लाला लाजपत राय, लोहिया, स्वामी विवेकानंद, रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि, जिद्दू कृष्णमूर्ति, टैगोर, जयप्रकाश नारायण इत्यादि जैसे आधुनिक भारतीय चिंतकों के विमर्श में विद्रोह तथा द्वंद की प्रमुखता होते हुए भी उनका सांस्कृतिक या परंपरा का चिंतन समावेशी तथा समग्रतावादी है। अतः नामवर जी की पुस्तक यदि “परंपरा की दूसरी खोज” के शीर्षक से प्रकाशित होती जिसमें कि प्रत्येक चिंतक/साहित्यकार का प्रमुख धर्म “सत्य अथवा परंपरा की अपनी खोज” अथवा उसका पुनराविष्कार होता हो यह स्वतः सिद्ध आलोचनात्मक दृष्टि होती, क्योंकि परंपरा की पहली, दूसरी ही नहीं, अनंत खोजें संभव हैं, क्योंकि मूलतः शब्द शक्ति में ही अनंत अर्थों की सृष्टि/उत्पत्ति निहित है।

संदर्भ

1. नामवर सिंह, *दूसरी परंपरा की खोज*, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1994 (प्रथम प्रकाशन: 1982)। प्रस्तुत लेख में उद्धृत अंश इसी संस्करण से लिए गए हैं तथा पृष्ठ संख्या के साथ दिए गए हैं।
2. टी.एस. इलियट, *सिलेक्टिड प्रोज*, हारमॉण्ड्सवर्थ, पेंग्विन बुक्स, 1953, पृ. 24। अन्य सभी उदाहरण इसी पुस्तक से पृष्ठ-संख्या के साथ उद्धृत हैं।
3. वही (पृ. 20-21)।
4. वामन शिवराम आप्टे, *संस्कृत-हिंदी कोश*, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, 1997, पृ. 577-578: तत्पश्चात् आप्टे, पृष्ठ संख्या के साथ उद्धृत।

5. अमर्त्य सेन, *दि ऑर्गुमेंटेटिव इंडियन*, नई दिल्ली, पेंग्विन बुक्स, 2005। विशेषतः पृ. 3-44, 121-160, 334-356.
6. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, काशी, नागरी प्रचारिणी सभा, 1997, पृ. 34। तत्पश्चात् लेख में पृष्ठ संख्या के साथ उद्धृत।
7. *अथर्ववेद संहिता* भाग-2, (संपादक श्रीराम शर्मा आचार्य), मथुरा, युगनिर्माण योजना, 2010, बारहवाँ कांड, 1-63 (पृ. 1-10)।
8. जर्नादन भट्ट (संपादक) *अशोक के धर्म लेख*, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 2000, पृ. 24-115.
9. *धम्मपद* (संपादक एस. राधाकृष्णन), दिल्ली, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1997 (प्रथम प्रकाशन 1950), यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि धम्मपद के टेस्ट (पाठ) में सबसे बड़ी व्याख्या “ब्राह्मणवग्गो” में ब्राह्मण के लक्षण तथा कर्तव्यों की है (देखें पृ. 177-187)। यदि श्रमण तथा ब्राह्मण जीवन-दृष्टियाँ (यदि इन्हें पृथक-पृथक जीवन-दृष्टियों के तौर पर भी माना जाए) दो अलग-अलग परंपराएँ होतीं (पहली और दूसरी) तो धम्मपद में ब्राह्मणवग्ग किस प्रकार सबसे बड़ा कांड होता? छब्बीस कांडों में विभक्त धम्मपद में सर्वाधिक अवकाश ब्राह्मणों के लक्षणों। कर्तव्यों को दिया गया है यह हमारी परंपरा के उस स्वरूप को बताता है विभिन्नताओं तथा विरोधी-स्वरों को एक सामासिक परंपरा में समन्वित करता है। अंकगणितीय पारंपरिक, प्रपंच की तरह पहली, दूसरी तीसरी.. इत्यादि परंपराओं का निर्माण भारतीय परंपरा के अनुसार नहीं हो सकता है।
10. मोहनदास करमचंद गाँधी *हिंद स्वराज*, अहमदाबाद, नवजीवन, 2009 (प्र. 1909)। विशेषतः पृ. 25-26, 30, 42-46, 52-57, 84-90.
11. रेमंड विलियम्स *मार्क्सिज्म एंड लिटरेचर*, आक्सफर्ड, ग्रेट क्लेरेंडन प्रेस, 2010 (प्र. प्रकाशन 2010)। पृ. 121-144.
12. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी “*रामचरितमानस : दिव्यप्रेरणा की अप्रतिम कृति*” संकलित है हजारीप्रसाद द्विवेदी भाषा, साहित्य और देश, नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, 1998, पृ. 78-82। यही पुस्तक द्विवेदी-भाषा की तरह पृष्ठ संख्या सहित लेख में उद्धृत है।
13. गोस्वामी तुलसीदास *रामचरितमानस*, गोरखपुर, गीताप्रेस, 1996, ‘बालकांड’ 2004, पृ. 24।
14. रवींद्रनाथ टैगोर *सिलेक्टिड राइटिंग्स ऑन लिटरेचर एंड लैंग्वेज* (संपादक एस. के. दास, एवं सुकांत चौधरी), नई दिल्ली, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 2012, (प्र. संस्करण 2001) पृ. 49-50.
15. अज्ञेय *स्मृति और काल* संकलित है “खुले में खड़ा पेड़” (सं. नंदकिशोर आचार्य), वीकानेर, वाग्देवी पॉकेट बुक्स, 1999, पृ. 21.

प्रेमचंद-आलोचना के मिथक तथा उपेक्षा अवमूल्यन की दिशाएँ

कमल किशोर गोयनका*

आधुनिक हिंदी साहित्य के आलोचना-इतिहास में प्रेमचंद की आलोचना का इतिहास काफी बड़ा और विस्तृत है। प्रेमचंद-साहित्य पर जितने शोध-कार्य हुए हैं तथा आलोचनात्मक पुस्तकें छपी हैं, उतना कार्य आधुनिक साहित्य के किसी साहित्यकार पर नहीं हुआ, लेकिन इस व्यापक आलोचना-संसार की त्रासदी यह है कि सैकड़ों शोध-प्रबंधों में अधिकांशतः एक-दूसरे की आवृत्ति है तथा जिनमें कुछ मौलिकता एवं नवीन स्थापनाएँ हैं, उनकी चर्चा कभी हिंदी के आलोचना-संसार में नहीं हुई और न उनकी स्थापनाओं को ही प्रेमचंद के पाठकों-छात्रों-अध्यापकों तक पहुँचाया गया। हिंदी में शोध-कर्म तथा शोध-निष्कर्षों की उपेक्षा ज्ञान के विकास में बहुत बड़ी बाधा है। प्रेमचंद की आलोचना का एक पक्ष उनकी समकालीन आलोचना का है, जिसे अब तक किसी आलोचक या शोधकर्मी द्वारा नहीं देखा गया और जो आज भी पुरानी पत्र-पत्रिकाओं में बंद पड़ा है और वह कभी भी दीमकों के हवाले हो सकता है। उनकी आलोचना का एक पक्ष और भी है। देश की स्वतन्त्रता के साथ और उससे कुछ पूर्व प्रेमचंद की आलोचना में कई नए आलोचकों का आविर्भाव हुआ और प्रेमचंद-आलोचना की परंपरा निरंतर पुष्ट होती गई। इन आलोचकों में मदन गोपाल, रामविलास शर्मा, नंददुलारे वाजपेयी, रामरतन भटनागर, श्रीपति शर्मा, जितेंद्रनाथ पाठक, मन्मथनाथ गुप्त, नलिनविलोचन शर्मा, राजेश्वर गुरु, इन्द्रनाथ मदान, गोपाल राय, नगेंद्र, शचीरानी गुर्तू : गौतम सचदेव आदि ने प्रेमचंद की आलोचना का विस्तार किया और उनके साहित्य के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला; किंतु प्रेमचंद-आलोचना में प्रगतिशील आलोचकों का एक ऐसा समूह रहा और जो अब तक है, जिसने प्रेमचंद-साहित्य की आलोचना एवं मूल्यांकन को मार्क्सवाद और उसके जीवन-दर्शन तक सीमित कर

* कमल किशोर गोयनका, ए-98, अशोक विहार, फेज प्रथम, दिल्ली-110052; मो. 09822052469

दिया और प्रेमचंद को मार्क्सवादी, रक्तिम क्रांति एवं वर्ग-संघर्ष के समर्थक गाँधीवाद के विरोधी तथा घोर यथार्थवादी के रूप में स्थापित किया और कई दशकों से प्रगतिशील आलोचक इसी की बार-बार आवृत्ति, बार-बार घोषणा तथा बार-बार स्थापनाएँ कर रहे हैं। इस प्रगतिशील आलोचना के विरुद्ध और विपरीत जब कुछ मौलिक एवं नई अवधारणाएँ आती हैं, तो यह प्रगतिशील-समूह अपने अविवेकी-असंगत-अतार्किक आलोचना-महल को ढहते देखता है तो सचाई को तथा नए शोध-निष्कर्षों को स्वीकार करने की अपेक्षा उन्हें शत्रु समझकर उन पर आक्रमण करता है और गालियाँ बकता है तथा बदनाम करता है। मेरा लगभग आधी शताब्दी का ऐसा ही अनुभव है। मैंने जब से प्रेमचंद के जीवन, साहित्य तथा चिंतन के नए सूत्र उनके दस्तावेजों के आधार पर खोले हैं प्रगतिशील आलोचकों का यह आक्रमण तब से अब तक चल रहा है। नामवर सिंह ने 'जनसत्ता' (5 अप्रैल, 2012) तथा मधुरेश ने 'पुस्तकवार्ता' (मई-जून, 1912) में प्रगतिशीलों की इसी युद्ध नीति से मुझ पर आक्रमण किया और मेरा समुचित उत्तर इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं में छपा है। हिंदी की प्रगतिशील आलोचना सिद्धांत और व्यवहार में एकाधिकारवादी है, क्योंकि उसके मूल-स्रोत मार्क्सवाद की यही प्रकृति और दर्शन है। प्रेमचंद के प्रगतिशील आलोचक प्रेमचंद पर अपना एकाधिकार समझते हैं और प्रेमचंद की प्रगतिशील मूर्ति को, जो उनके बहुत बड़े अंश को काट-छाँट कर बनी है, साहित्य-संसार को स्वीकार करने के लिए दबाव डालते रहते हैं।

प्रेमचंद की प्रगतिशील आलोचना ने प्रेमचंद का बहुत बड़ा अहित किया है। उन्होंने प्रेमचंद की 301 कहानियों, 14 उपन्यासों, तीन नाटकों तथा हजारों पृष्ठों के अन्य साहित्य में केवल 10-15 रचनाओं को ही प्रगतिशील प्रेमचंद की रचनाएँ मानते हुए उन्हें ही वास्तविक प्रेमचंद अर्थात् मार्क्सवादी प्रेमचंद अर्थात् यथार्थवादी प्रेमचंद की रचनाएँ माना है। प्रेमचंद का शेष विपुल साहित्य उनके लिए कपोल-कल्पना, भावुकतापूर्ण, आदर्शवादी तथा अवास्तविक जीवन की रचनाएँ हैं। इस प्रकार प्रगतिशीलों ने प्रेमचंद को प्रेमचंद के विरुद्ध खड़ा कर दिया है तथा कुछ ऐसे मिथक बनाए हैं जो अवास्तविक तथा तर्कहीन होने पर भी अभी तक चल रहे हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन पर विश्वास बना हुआ है। प्रेमचंद की गरीबी का मिथक ऐसा ही है जो अब तक चल रहा है जो पूर्णतः गलत और भ्रामक है। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा था कि प्रेमचंद का जन्म गरीबी में हुआ, गरीबी में जिंदा रहे और गरीबी में ही मर गए। अमृतराय ने 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' में भी उनकी गरीबी दशा का ही चित्रण किया है, किंतु प्रेमचंद के बड़े पुत्र श्रीपतराय ने कभी नहीं माना कि उनके पिता गरीब थे। सन् 1980 में जब मैंने उनके बैंक खातों, वेतन तथा रायल्टी आदि का तथ्यात्मक विवरण 'कादंबिनी' में प्रकाशित कराया तो हिंदी संसार में जैसे भूचाल आ गया और मार्क्सवादी डॉ. नामवर सिंह ने कई स्थानों पर कहा कि एक हिंदू लेखक प्रेमचंद की

पासबुक दिखाते फिरते हैं। एक बार तो इलाहाबाद में दूधनाथ सिंह तथा मार्कण्डेय से झड़प ही हो गई। प्रेमचंद के देहांत के समय उनके दो बैंक खातों में पाँच हजार रुपये के लगभग बैलेन्स था। मैंने उनके लगभग 35 वर्षों की आर्थिक स्थिति का जो विवरण प्रस्तुत किया उससे उनके गरीब होने का मिथक टूटा, परंतु आज तक भी हमारे प्रगतिशील अपनी पुरानी असत्य धारणा से ही जुड़े हैं, क्योंकि उनके गरीबी के मिथक के टूटने से उनको जो मानसिक आघात लगा है उससे वे अपना मानसिक संतुलन खो चुके हैं। वे आज भी प्रेमचंद की गरीबी का रोना रोते हैं और प्रेमचंद के पाठकों-प्रेमियों को अंधकार में रखते हैं।

हिंदी-उर्दू के प्रगतिशीलों ने इसी प्रकार के कई मिथ्या मिथक बनाए हैं और वे आज भी उन्हें लादे चल रहे हैं। ये लोग बराबर कहते रहे हैं कि प्रेमचंद साम्राज्यवाद एवं सामन्तवाद के विरोधी लेखक थे, पर ये भूल जाते हैं कि यह प्रेमचंद-साहित्य की एक प्रवृत्ति है, इससे सम्पूर्णता में उनकी पहचान नहीं होती है। प्रेमचंद को समग्रता में देखने-पढ़ने-समझने से ही उनके भारतीयता के कथाकार होने का ज्ञान होता है, उन्हें टुकड़ों में बाँटने अथवा एक प्रवृत्ति में ही प्रेमचंद की मूर्ति की प्रतीति अज्ञान का प्रमाण है। इन्हीं आलोचकों ने प्रेमचंद के मार्क्सवादी और यथार्थवादी होने का मिथक गढ़ा और प्रगतिशील आलोचक आज तक इसका डंका पीटते हैं, बिना यह देखे-समझे कि प्रेमचंद इस विषय में क्या कहते हैं। प्रेमचंद ने सन् 1919 में एक पत्र में यह अवश्य लिखा था कि मैं वोल्शेविक उसूलों का करीब-करीब कायल हो गया हूँ, किंतु इसके बाद वे अपनी रचनाओं और लेखों में साम्यवाद और उनके अनुयायियों की बराबर आलोचना करते रहे हैं। 'स्वदेश' में सन् 1928 में छपे एक लेख में उन्होंने लिखा कि साम्यवाद तो पूँजीवाद से अधिक भयानक है। सन् 1933-34 के लेखों में उन्होंने लिखा कि सोवियत रूस अपने विचारों का साम्राज्य चाहता है। इसी समय उन्होंने सोवियत व्यवस्था के पतन तथा नई व्यवस्था के आने की भविष्यवाणी भी की। उन्होंने 'गोदान' तक में प्रो. मेहता से साम्यवादी व्यवस्था की आलोचना करवाई है।

यदि प्रगतिशील आलोचक उनकी 'कैदी', 'कातिल' तथा 'कातिल की माँ' कहानियाँ पढ़ लें और समझ ले तो उन्हें मालूम होगा कि प्रेमचंद मार्क्स के दर्शन तथा लेनिन के कामरेडों के कितने विरुद्ध थे। इसी प्रकार प्रेमचंद बार-बार अपने को आदर्शवादी कहते हैं और यह भी कहते हैं कि हममें से कोई यथार्थवादी नहीं है, किंतु प्रगतिशील आलोचक उन्हें कभी यथार्थवादी, कभी क्रांतिकारी यथार्थवादी आदि की रट लगाए रहते हैं। अब प्रगतिशीलों का यह मिथक भी चूर-चूर हो गया है। कोई भी समझदार आलोचक सैकड़ों-हजारों रचनाओं के होते हुए तीन-तेरह रचनाओं के आधार पर यथार्थवादी बनाने की मूर्खता नहीं कर सकता। मुझे अब तक आम जनता में जो प्रेमचंद के पाठक मिले हैं, वे सभी उन्हें आदर्शवादी मानते हैं और कहते हैं कि प्रेमचंद ने मनुष्य को ऊँचा उठाकर मनुष्यता की रक्षा की है।

हिंदी के प्रगतिशील आलोचकों ने उन्हें मार्क्सवादी बनाने के लिए और भी तरह-तरह के प्रयास किए हैं और वे मिथक जैसे बन गए हैं। प्रेमचंद ने सन् 1908 में लिखा था कि साहित्य अपने युग का दर्पण है, लेकिन प्रगतिशील युग की व्यापक अवधारणा में देश-प्रेम, धर्म, संस्कृति, समाज-सुधार, देवत्व की अनुभूति को स्वीकार नहीं करते। उनके युग-दर्पण में जीवन का दुःख-दर्द, शोषण-दमन ही आता है, जीवन का उल्लास, परिष्कार, संस्कार, जिजीविषा, अस्तित्व-बोध, भारतीयपन आदि सब कपोल-कल्पना, भावुकतापूर्ण एवं यथार्थ विरोधी हैं। प्रेमचंद ने कहा था कि जीवन के यथार्थ में जीवन का आदर्श क्यों नहीं आ सकता, लेकिन प्रगतिशील इस पर मौन हैं। प्रेमचंद ने जब यह कहा कि साहित्य जीवन की आलोचना है, तो क्या जीवन की आलोचना में जीवन का सौन्दर्य एवं शिव-पक्ष शामिल नहीं है? प्रेमचंद ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का साहित्य-दर्शन दिया, परंतु प्रगतिशीलों ने आदर्श को काटकर फेंक दिया और उन्हें उनके साहित्य-सिद्धांत के विपरीत यथार्थवाद तक सीमित कर दिया। प्रेमचंद ने 'प्रगतिशील लेखक संघ' के भाषण में मन के संस्कार तथा आध्यात्मिक आनंद की बात कही थी, लेकिन प्रगतिशीलों ने इनकी कभी चर्चा नहीं की और इन विचारों के विपरीत मिथकों की रचना करते रहे। इन प्रगतिशील आलोचकों ने प्रेमचंद के स्वराज्य प्राप्ति तथा भारतीय आत्मा के संकल्प को कभी महत्त्व नहीं दिया और वर्ग-संघर्ष एवं हिंसक क्रांति से राजसत्ता की प्राप्ति का दिवा-स्वप्न देखते रहे।

प्रेमचंद पर प्रगतिशील आलोचना के इस आधिपत्य ने उनके साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों को नगण्य बना दिया और यदि उन पर विचार हुआ तो उन्हें अवास्तविक, महत्त्वहीन तथा कमजोर बताकर प्रेमचंद को अपमानित किया गया। हमारे प्रगतिशीलों के लिए प्रेमचंद का लेनिन-स्टालिन का समर्थक होना बहुत बड़ी बात हो सकती है, किंतु उनके साहित्यिक कृतित्व के अनेक ऐसे पक्ष हैं, जिनमें उनके भारतीय आत्मा के कथाकार होने के कालजयी सूत्र विद्यमान हैं। उनके इस व्यापक साहित्यिक वाङ्मय के बिना उनकी मूर्ति पूर्ण नहीं हो सकती। किसी भी लेखक को उसकी समग्रता में ही पहचाना और समझा जा सकता है, उसे सीमित करके अथवा किसी राजनीतिक कटघरे में बंद करके अपने विचारों के अनुरूप उनकी मूर्ति तो बना सकते हैं, किंतु इस अल्पांश मूर्ति को समग्र मूर्ति होने का दावा नहीं कर सकते। अतः यह आवश्यक है कि हम धूमिल हुए तथा लोक-स्मृति से गायब कर दिए गए प्रेमचंद के साहित्य की उन प्रवृत्तियों को भी जानें जिनसे उनके साहित्य की मुख्यधारा बनती है तथा जिनके कारण वे भारतीय कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित और मान्य हुए।

प्रेमचंद-साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की है। इसकी चर्चा कुछ किताबों में तो मिलती है, किंतु पहले इनमें भावुकता तथा अंध राष्ट्रवाद होने की बात कहकर खिल्ली उड़ाई गयी और फिर आलोचक इनकी चर्चा से बचने लगे। भारत की पराधीनता और स्वतंत्रता के दोनों कालों में राष्ट्रीयता का भाव प्रत्येक

नागरिक के मनमें होना आवश्यक है। देश के प्रति निष्ठा और समर्पण न हो तो देश सुरक्षित नहीं रह सकता। विदेश के कम्युनिस्ट और मुस्लिम देशों में प्रबल राष्ट्रीय भाव देखा जा सकता है। आज तो भारत चारों ओर से शत्रु-भाव से घिरा है, अतः राष्ट्र-प्रेम का होना और भी आवश्यक है। प्रेमचंद ने 27-28 वर्ष के आयु में 'दुनिया का अनमोल रतन' तथा 'यही मेरी मातृभूमि है' दो ऐसी कहानियों लिखीं जिनमें देश-प्रेम और भारत-भक्ति का आख्यान है। प्रेमचंद को देश-भक्तिपूर्ण कहानियों के संग्रह 'सोजेवतन' के कारण अंग्रेजी सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा, परंतु उन्होंने गाँधी के राजनीति में आने पर तथा उनके आंदोलनों को लेकर अनेक महत्त्वपूर्ण कहानियाँ और उपन्यास लिखे और वे स्वाधीनता संग्राम के महागाथाकार बने। उन्होंने देहांत से दो वर्ष पूर्व कहा था कि उनका उद्देश्य स्वराज्य प्राप्ति है और वे चाहते हैं कि इसके लिए दो-चार महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखें। प्रेमचंद ने इसी उद्देश्य के लिए कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ लिखीं, जैसे 'रानी सारन्धा', 'आल्हा', 'राजा हरदौल', विक्रमादित्य का तेंगा', 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि। इससे वे पाठक के मन में अतीत के प्रति गौरव, अस्मिता एवं स्वतंत्रता-बोध तथा देश के लिए उत्सर्ग की भावना उत्पन्न करना चाहते थे। प्रेमचंद ने लिखा था कि जो देश अपने अतीत पर गर्व नहीं करता वह नष्ट हो जाता है, परंतु आलोचक लेखक की इस मर्म-दृष्टि को समझना नहीं चाहते। प्रेमचंद की सांस्कृतिक चेतना को भी गंभीरता से नहीं देखा-परखा गया और अधिकांशतः उनकी हिंदू धर्म की आलोचना तथा उनकी सेक्यूलर-दृष्टि की ही विवेचना करते रहे। प्रेमचंद ने हिंदू, ईसाई और मुस्लिम धर्म-संस्कृति का अध्ययन किया था और इन पर लेख भी लिखा था। किन्तु आलोचक उन्हें देखना ही नहीं चाहते। प्रेमचंद ईसाई धर्म, संस्कृति, जीवन-शैली तथा खेल-कूद तक के विरोधी थे। 'रंगभूमि' उपन्यास में जॉनसेवक के परिवार के माध्यम से उन्होंने ईसाइयों के जीवन तथा विचारों का चित्रण किया है, किंतु मुस्लिम धर्म-संस्कृति के प्रति उनके मन में आदर का भाव था। हजरत मुहम्मद साहब पर 'नबी का नीति निर्वाह' कहानी तथा कर्बला के शहीदों पर 'कर्बला' नाटक लिखा था, यद्यपि इस नाटक के लिखने पर उन्हें मुस्लिम अदीबों की आलोचना सहनी पड़ी थी। वे हिंदू संस्कृति के प्रशंसक थे और उसके त्याग, उत्सर्ग, सेवा, परोपकार, अपरिग्रह, अहिंसा आदि जीवन-मूल्यों को श्रेष्ठतम मानवीय मूल्य मानते थे। उन्होंने एक लेख में लिखा कि 'अहिंसा परमो धर्मः', 'वसुधैव कुटुम्बकम्' आदि हिंदू धर्म-संस्कृति की बड़ी उपलब्धियाँ हैं, लेकिन उन्होंने हिंदू धर्म-संस्कृति में जो विकृतियाँ, अंधविश्वास, पाखंडपूर्ण कर्मकांड तथा ब्राह्मणों के शोषण आदि आ गई हैं, उनकी तीव्र आलोचना भी की और इसी प्रकार पश्चिमी सभ्यता के समाज पर पड़ने वाले कुप्रभावों तथा विसंस्कृतीकरण पर भी गहरी चोट की और लिखा कि हमें इस पश्चिमीकरण से भारतीयता की रक्षा करनी होगी। वे अंग्रेजों की सभ्यता की नकल को मानसिक पराधीनता कहते थे और समाज को उससे मुक्त करके भारतीय जीवन-मूल्यों की छाप

लगाना चाहते थे। उनका एक दार्शनिक चिंतन था। वे आत्मा का विकास, आत्मोन्नति तथा आत्मिक तृप्ति और आनंद को सर्वोपरि मानते थे। उन्होंने 'प्रगतिशील लेखक संघ' (10 अप्रैल, 1936) के व्याख्यान तक में मन के संस्कार तथा आध्यात्मिक आनंद, आध्यात्मिक सामंजस्य और आध्यात्मिक तृप्ति की बार-बार चर्चा की है। प्रेमचंद की इस सांस्कृतिक चेतना के गंभीर अध्ययन से ही हम प्रेमचंद-साहित्य की आत्मा को समझ सकते हैं। इसकी उपेक्षा से न तो प्रेमचंद को, न उस युग को तथा न उस युग के सांस्कृतिक नवजागरण के मर्म को ही समझ सकते हैं। उस युग में सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय नवजागरण, अस्तित्व एवं अस्मिता-बोध के साथ भारत-राष्ट्र का कायाकल्प करके उसे एक ऐसा आधुनिक राष्ट्र बनाने का प्रयास था, जिसमें पुरातन भारत के जीवन-मूल्यों के साथ देश के अनुकूल आधुनिक चेतना के तत्त्वों का सहज सामंजस्य हो सके। इस संश्लिष्ट नवजागरण के साथ प्रेमचंद के साहित्य को रखकर हम प्रेमचंद की कलात्मक श्रेष्ठता की अनुभूति कर सकते हैं। जो प्रगतिशील आलोचक प्रेमचंद को 'साम्राज्यवाद तथा सामंतवाद के विरोधी लेखक तक सीमित कर देते हैं, वे कितने व्यापक जीवन-परिदृश्य तथा राष्ट्रीय-संकट को आँखों से ओझल कर देते हैं। इसलिए उन्हें समग्रता में पढ़ना-समझना आवश्यक है।

प्रेमचंद-साहित्य की सामाजिकता तथा समाजोन्मुखता की इतनी चर्चा हुई है कि उसमें व्यक्ति की सत्ता, उसकी शक्ति और अस्तित्व प्रायः खो गया है। इसी कारण उन्हें समाज-सुधार, समाजोत्थान, समस्यामूलक कथाकार आदि सिद्ध किया जाता रहा है। यह सच है कि वे समाज-सुधार के लिए कटिबद्ध हैं और वे कथा का ताना-बाना इसी दृष्टि से बुनते हैं, परंतु समाज के परिवर्तन का मार्ग उनके पात्र की प्रशस्त करते हैं। प्रेमचंद के पात्र परिस्थितियों में जीते हुए उन्हें बदलते हैं और स्वयं को भी बदलते हैं और अपने मूल्यों के लिए जूझते और संघर्षशील रहते हैं। 'गोदान' में होरीराम पटेल एक व्यक्ति है, बाद में एक छोटा भारतीय किसान और वह अपनी जिजीविषा से भयंकर कष्टों के बीच अपने अस्तित्व की रक्षा में लगा रहता है। प्रेमचंद की कहानी 'रूहे हयात' (जीवन की प्राण-शक्ति) की ग्रामीण अनाथ बालिका गुजराती की जिजीविषा, सेवा, परोपकार की अनुपम उदाहरण है जो अपनी कर्मशीलता और लगन से ऊँचे स्थान तक पहुँचती है। उनकी कहानी 'रंगीलेबाबू' का नायक रसिक लाल तो पुत्री तथा दुल्हा बने पुत्र की मृत्यु पर ईश्वर को चुनौती देता है और बेटे की अर्थी को दुल्हा बनाकर उसकी बारात निकालता है। 'मंत्र' कहानी का बूढ़ा भारत अपने आखिरी बेटे को खोने पर भी डॉ. चड्ढा के पुत्र की सर्पदंश से रक्षा करता है और रंगमंच से गायब हो जाता है। प्रेमचंद अपने पात्रों से मनुष्यता की रक्षा करते हैं। प्रेमचंद की प्रेम कहानियों की भी कोई चर्चा नहीं होती, लेकिन कहानी-उपन्यास दोनों में प्रेम-कथाएँ हैं, बस अंतर यह है कि राजेंद्र यादव और 'हंस' में प्रकाशित कहानियों जैसी भोगवादी कहानियाँ नहीं हैं। प्रेमचंद के प्रेम-दर्शन को स्त्री और पुरुष दोनों दृष्टियों से समझना

आवश्यक है। प्रेमचंद ने 'लिव-इन-रिलेशनशिप' पर 'मिस पद्मा' कहानी लिखी थी, जिसकी इधर खूब चर्चा है। प्रेमचंद ने दिखाया कि ऐसे रिश्ते में स्त्री की ही दुर्दशा होती है। प्रेमचंद स्त्री की यौन-पवित्रता की रक्षा करते हैं और जहाँ पुरुष इस पवित्रता को भंग करता है, लेखक उसे दंडित करता है। वे 'बालक' कहानी में स्त्री की यौनिक को एक नई नैतिकता देते हैं। कहानी में अशिक्षित नायक विवाह के छह महीने के बाद उत्पन्न बच्चे को इस तर्क से स्वीकार करता है कि मैंने एक खेत खरीदा था, उस पर किसी ने फसल बोई हुई थी तो क्या वह फसल मेरी नहीं होगी। प्रेमचंद की यह नैतिकता और आधुनिकता विचारणीय है तथा इसे पाठकों तक पहुँचाना जरूरी है। उनकी कहानी 'कैदी' तथा 'जिहाद' को भी आलोचकों ने परिदृश्य से हटा दीं, क्योंकि 'कैदी' में लेनिन के रूसी कामरेडों की धोखाघड़ी, स्वार्थपरता तथा क्रांतिद्रोहिता साहित्य में मार्क्सवाद के प्रचार में बाधक थी तथा 'जिहाद' तो वर्तमान जिहाद का पूर्व-रूप है। एक मुल्ला के आह्वान पर अफगानिस्तान के पठान हिंदुओं का धर्मान्तरण और उनका कत्ल करते हैं। प्रेमचंद ने परिवार-नियोजन पर 'गमी' कहानी लिखी जो दो बच्चों तक परिवार को सीमित करती है और उन्हें भविष्यद्रष्टा लेखक बनाती है। उन्होंने विदेशी पात्रों, विदेशी लुटेरों, पशु-पक्षियों तथा बाल जीवन पर भी मार्मिक कहानियाँ लिखी हैं, किंतु इन पर कभी गंभीरतापूर्वक विचार नहीं हुआ।

अंत में, आवश्यक है कि प्रेमचंद-आलोचना को एक स्वस्थ तथा वैज्ञानिक रूप दिया जाए और ऐसे मिथकों को हटा दिया जाए जिनका कोई तर्क-संगत आधार नहीं है। प्रेमचंद के प्रामाणिक ज्ञान में ये झूठे मिथक बहुत बड़ी बाधा हैं। प्रेमचंद को प्रगतिशील कथाकार बनाने के चक्कर में आलोचक यह भूल जाते हैं कि उन्होंने 'प्रगतिशील लेखक संघ' के व्याख्यान में 'प्रगति' शब्द का ही विरोध किया था। प्रेमचंद प्रगतिशील थे भारतीय अर्थ में, न कि मार्क्सवाद के अर्थ में। इसके साथ प्रेमचंद को समग्रता में पढ़ना और समझना होगा। 'आदर्शान्मुख यथार्थवाद' उनके साहित्य का समग्र दर्शन है, अतः छोटे-छोटे कटघरों, विचार-समूहों में बाँटकर प्रस्तुत करना उनका अंग-भंग करना और अवमूल्यन है। प्रेमचंद का साहित्य भारतीयता को वाणी देनेवाला साहित्य है। इस भारतीयता में उनके साहित्य के सभी रंग, सभी प्रसंग और जीवन के सभी परिदृश्य समा जाते हैं। इस भारतीयता के मूल में राष्ट्र-प्रेम एवं स्वतंत्रता तथा भारतीय आत्मा की खोज है। देश-प्रेम, स्वतन्त्रता, अस्मिता तथा आत्मा की अनुभूति परस्पर संश्लिष्ट हैं और ये ही भारतीयता को रूपाकार देती हैं। अतः प्रेमचंद को भारतीयता के व्यापक वाङ्मय में अवस्थित करके उनके सरोकारों, चिंताओं तथा स्वप्नों को समझना चाहिए, न कि कुछ को चुनकर तथा कुछ की उपेक्षा और अवमूल्यन करके प्रेमचंद की भारतीयता हमें भारत के पुरातन और आधुनिक दोनों रूपों से जोड़ती है और विश्वास है कि आनेवाली पीढ़ियाँ भी इसी भारतीयता से प्रेमचंद को पढ़कर जान सकेंगे।

निराला का वास्तविक पाठ

शंकर शरण*

हिन्दी साहित्य म. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के स्थान के बारे म. रटी-रटाई बात. कहने का चलन अधिक रहा है। निराला साहित्य को पढ़ना, गुनना कम। विशेषकर 1960 के बाद की पीढ़ियों के बीच। हिन्दी के कई वर्तमान प्रोफेसरों तक ने निराला की इक्की-दुक्की, प्रायः कोर्स म. लगी रचनाएँ ही पढ़ी हैं। बहुतांश के पास उनकी पुस्तक. तक नहीं हैं। वैसे, अधिकांश मनीषियों के प्रति हमारे बौद्धिक वर्ग म. यही प्रवृत्ति है। हिन्दी साहित्य संबंधी प्रतिष्ठानों म. वाम प्रचारकों के वर्चस्व से यह महामारी रूप म. मिलती है। इसीलिए, निराला के बारे म. सुनी-सुनाई, फार्मूलाबद्ध बात. दुहराई जाती हैं। उस से भिन्न अपनी चार-छः पंक्ति भी कहने म. अधिकांश हिन्दी प्राध्यापक, आलोचक असमर्थ मिल.गे। क्योंकि उन म. पढ़ने और स्वयं सोच-विचार करने की आदत नहीं।

इसीलिए निराला की बनी-बनाई 'प्रगतिशील' छवि को झटका लगता है, जब कोई मनोयोग से उन की रचनाएं उलटना, पढ़ना आरंभ करे। उदाहरणार्थ, उन की रचना *तुलसीदास*। छः-छः पंक्तियों के एक सौ छंदों की यह लंबी कविता निराला ने एक स्वतंत्र पुस्तक के रूप म. प्रस्तुत की थी। राय कृष्णदास जैसे अद्वितीय कला-मर्मज्ञ ने पुस्तक के आरंभ म. इस का 'परिचय' लिखा था। यह पहली बार 1935 ई. म. भारती-भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी।

तुलसीदास की महत्ता निराला के संपूर्ण काव्य म. विशिष्ट है। एक बार जब गाँधीजी ने हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों के संबंध म. कुछ ऊल-जुलूल टिप्पणियाँ कर दी, तब निराला उन से उलझने गए। बातचीत के क्रम म. जब उदाहरण देने की जरूरत पड़ी तो, उन्होंने अपनी रचनाओं म. केवल *तुलसीदास* का नाम लिया।¹ निराला जिस तरह भारतीय पारंपरिक अर्थ म. स्वाभिमानी और सुसंस्कृत थे, उस म. समझा जाना चाहिए कि अन्य महत्तम हिन्दी कवियों के साथ स्वयं अपनी रचना का नाम उन्होंने तभी लिया होगा जब उपस्थित प्रसंग म. इसकी अनिवार्य आवश्यकता पड़ी

* IV/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली-110016

होगी। इसका अर्थ अभी हमारे लिए यह निकलता है कि निराला स्वयं अपने *तुलसीदास* को प्रधान महत्त्व की रचना मानते थे।

इसपर एक अन्य महान कवि की विस्तृत गवाही से भी *तुलसीदास* का महत्त्व समझा जा सकता है। कवि अज्ञेय ने लिखा है कि निराला के काव्य के बारे में उन की धारणा *तुलसीदास* पढ़ कर ही पूरी तरह बदल गई थी। *तुलसीदास* पढ़कर उन्हें जो अनुभव हुआ, वह अज्ञेय के अपने ही शब्दों में।

अब भी उस अनुभव को याद करता हूँ तो मानो एक गहराई में खो जाता हूँ। अब भी 'राम की शक्ति-पूजा' अथवा निराला के अनेक गीत बार-बार पढ़ता हूँ, लेकिन *तुलसीदास* जब-जब पढ़ने बैठता हूँ तो इतना ही नहीं कि एक नया संसार मेरे सामने खुलता है, उस से भी विलक्षण यह है कि वह संसार मानो एक ऐतिहासिक अनुक्रम में घटित होता हुआ दीखता है। मैं मानो संसार का एक स्थिर चित्र बल्कि एक जीवंत चलचित्र देख रहा होता हूँ। ऐसी रचनाएं तो कई होती हैं जिन में एक रसिक हृदय बोलता है। विरली ही रचना ऐसी होती है जिस में एक सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप से अवतरित हुई हो। *तुलसीदास* मेरी समझ में ऐसी ही एक रचना है। उसे पहली ही बार पढ़ा तो कई बार पढ़ा।²

ऐसी अनूठी रचना है निराला का *तुलसीदास*, जो लिखी गई नहीं, बल्कि अवतरित हुई! किन्तु बड़े आश्चर्य और दुःख की बात यह है कि आज इस के उपलब्ध संस्करणों में वह सभी टिप्पणियाँ हटा दी गई मिलती हैं, जो स्वयं निराला ने विस्तार से दी थीं, ताकि कविता का अर्थ हृदयंगम में सुविधा हो। वह कितनी आवश्यक टिप्पणियाँ हैं, यह इसी से पता चल सकता है कि निराला द्वारा प्रकाशित संस्करण *तुलसीदास* 50 पृष्ठों में है, और टिप्पणियाँ उस के बाद 35 पृष्ठों में। वे उसका अनिवार्य अंग हैं। अतः यदि बिना उन टिप्पणियों के यह कविता या पुस्तक छपी जाती रही, तो इसे अपूर्ण कविता या पुस्तक का अंग-भंग किया हुआ माना चाहिए। (क्या यह एक जानी-मानी स.सरशिप रही है? इस पर भी सुधी पाठकों को विचार करना चाहिए।)

निराला द्वारा प्रकाशित तुलसीदास के मूल संस्करणों में दी गई टिप्पणियाँ उसे समझने के लिए तो अनिवार्य हैं ही। मूल्यांकन की दृष्टि से उन का महत्त्व यह भी है कि कवि द्वारा स्वयं दे दिए जाने के कारण वे टिप्पणियाँ उस कविता की किसी मनमानी, तोड़ी-मरोड़ी व्याख्या की संभावना खत्म कर देती हैं। (संभवतः इसीलिए उन्हें लुप्त करने का प्रबंध किया गया!) क्योंकि उस से न केवल निराला, बल्कि स्वयं कवि तुलसीदास की 'जनवादी' व्याख्या असंभव हो जाती है। इस प्रकार, निराला द्वारा दी गई वे विस्तृत टिप्पणियाँ दो महाकवियों को समझने के लिए आवश्यक, बल्कि

अनिवार्य हैं। यह आज के हिन्दी अध्ययन-अध्यापन एवं प्रकाशन पर एक टिप्पणी है कि वह बहुमूल्य सामग्री पाठकों को नहीं दी जाती। बहुतेरे हिन्दी प्रोफेसरों को उस की जानकारी तक नहीं है।

जैसा अज्ञेय ने लिखा, यह कविता एक ऐतिहासिक संदर्भ रखती है। क्या है वह ऐतिहासिक संदर्भ? देखिए, कविता के पहले ही छंद में निराला ने *तुलसीदास* का युग इन सीधे शब्दों में रखा है :

उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान।

पूरे छंद का अर्थ समझने के लिए निराला ने जो टिप्पणी दी है, वह इस प्रकार है, "मुसलमानों के आक्रमण से हिन्दू संस्कृति का जो हास हो गया है, उसी का यहाँ वर्णन है। ... सिर की रक्षा के लिए मुसलमान राजा हैं पर वे छाती पर बैठ कर शासन करते हैं, भारतीयों को दास बनाए हैं।"³

आगे बढ़ने से पहले, यहाँ जान लेना जरूरी है कि हमारे देश में पूरी मार्क्सवादी मंडली ने कई दशकों से कथित सांप्रदायिकता की जो परिभाषा कर रखी है, और जिसके आधार पर जिस किसी को हिंदू-सांप्रदायिक-फासिस्ट आदि कह कर गालियाँ दी हैं, उसमें सर्वप्रमुख बात यही है कि मुगल शासन को विदेशी, या अत्याचारी कहना, हिन्दू सांप्रदायिकता की पहली पहचान है। रोमिला थापर, विपिनचंद्र से लेकर सारे ही वामपंथी प्रचारक उसी को मूलाधार मानते हैं। किसी लेखक या बुद्धिजीवी के सेक्यूलर या सांप्रदायिक होने की कसौटी, उस का लिटमस-टेस्ट, ही यही है कि वह बाबर से लेकर औरंगजेब तक को क्या मानता है? तदनु रूप मुगलकाल की मनोहर छवि दिखाना, उसे स्वदेशी शासन बताना; इसीलिए राणा प्रताप और शिवाजी को राष्ट्रीय नायक मानने का कड़ा विरोध करना, यह वामपंथी प्रगतिवाद की बुनियादी टेक रही है।

इसलिए, 'हिन्दू सांप्रदायिकता' के विरुद्ध दशकों के वामपंथी-सेक्यूलर प्रलाप को ठीक से जानने वाले पाठक को *तुलसीदास* आरंभ करते ही महसूस होगा कि उस दृष्टि से निराला सांप्रदायिक हैं, किसी हाल में प्रगतिशील नहीं। क्योंकि बात कोई एक पंक्ति, या चलते-चलाते वक्तव्य की नहीं है। यह रचना पूरी तरह उसी पृष्ठभूमि को निरूपित करते हुए लिखी गई है। कविता के अनेक अंश, बल्कि उस के सौ छंदों में आरंभिक 36 छंद केवल उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन हैं, जिस का स्वर निराला ने पहले ही छंद में, और टिप्पणियों की पहली ही पंक्ति से स्पष्ट कर दिया है कि मुसलमानों के आक्रमण से हिंदू संस्कृति का हास हुआ, समाज की दुर्गति हुई, और मुगल शासन विदेशियों का शासन था जिस में हिन्दू जनता गुलामों की तरह अपमानजनक अवस्था में रह रही थी। निराला की इस महान कविता में पहला एक तिहाई हिस्सा इसी पृष्ठभूमि का चित्र-लिखित वर्णन है।

कुछ और बानगी देखिए, किस तरह देश मुगलों से पदाक्रांत होकर सब कुछ इस्लाम के अनुरूप कहने, रहने को विवश हो रहा है

यों, मोगल-पद-तल प्रथम तूर्ण
संबद्ध देश-बल चूर्ण-चूर्ण ...
संचित जीवन की, क्षिप्रधार,
इसलाम सागराभिमुखअपार
बहती नदियाँ, नद; जन-जन हार वशंवद।

तथा इस हाल म. जो बचे-खुचे भारतीय राजा हैं, वे दरअसल राजाओं के वेश म. केवल मुगलों के नौकर-चाकर भर हैं -

भारत के उर के राजपूत
उड़ गए, आज वे देवदूत
जो रहे शेष, नृप-वेश सूत-वन्दीगण।

कविता के 21 व. छंद का अर्थ निराला ने इस प्रकार दिया है, “मुसलमान सभ्यता म. पड़े हुए भारतीयों की दुर्दशा की ओर प्रकृति भी इंगित करती है। पार्थिव ऐश्वर्य के मोह म. सत्य की ज्योति ढँक गई है।”⁴ निराला के अनुसार, कवि तुलसीदास ने भी इसी भाव म. अपने समय के समाज को देखा था। जैसे सूर्य को राहु ने ग्रस लिया हो, उसी तरह भारतीय संस्कृति और देश-काल बंधन म. था। 24 व. छंद से तुलसीदास की यह भावनाएं रखी गई हैं

ज्यों राहु-ग्रस्त आभा रवि की,
देखी कवि ने छवि छाया-सी, भरती-सी
भारत का सम्यक् देशकाल;
खिंचता जैसे तम-शेष जाल...

भारत म. शूद्रों की स्थिति पहले सम्मानजनक थी। इस्लामी शासकों के काल म. ही वह हीन हुई, यह भी निराला ने नोट किया है

रक्खा उन पर गुरु-भार, विषम
जो पहला पद, अब मद-विष-सम;
द्विज लोगों पर इस्लाम-क्षम वह छाया,
जो देश-काल को आवृत कर
फैली है सूक्ष्म मनोनभ पर,
देखी कवि ने, समझा अब वर, क्या माया

यदि निराला ने इस 30व. छंद का अर्थ स्वयं न दे दिया होता, तो इस का यह आशय कौन प्रगतिशील आलोचक मानता, “सेवा के लिए जो पहले शूद्रों को पद मिला

वह सम्मानहीन हो उनके लिए विष-तुल्य हो गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों पर ही इस्लाम शक्ति वाली वह छाया फैली अपना काम कर रही थी। उस छाया को देख कवि समझा देश के लिए क्या वर था, क्या माया (अभिशाप) थी।”⁵

आगे के छंदों म. उस काल की सामाजिक-राजनीतिक स्थिति का आकलन समेटते हुए निराला ने लिखा:

सोचा कवि ने, मानस-तरंग,
यह भारत संस्कृति पर सभंग
फैली जो, लेती संग-संग जन-गण को;
इस अनिल-वाह के पार प्रखर
किरणों का वह ज्योतिर्मय घर,
रविकुल-जीवन-चुम्बनकर मानस-धन जो।

इसका आशय समझाते हुए निराला कहते हैं, “कवि ने सोचा कि मुक्ति इस इस्लामी संस्कृति से परे है। इस्लाम की छाया जो भारतीय संस्कृति को ढँके हुए है। यह छाया वास्तविक नहीं, हवा की तरह बहने वाली, अदृश्य है। इस के ऊपर किरणों का घर है अर्थात् सत्य का आलोक इस छाया से परे है। वह सत्य का घर सूर्य की किरणों के संस्पर्श से जीवित है। वही मानस का वास्तविक धन भी है। रामचरित मानस और उसके नायक रामचन्द्र की ओर भी भी इंगित है कि सूर्यवंश की आत्मा वही किरणों का घर है।”⁶

ऊपर हमने जिस तरह निराला के तुलसीदास को रखा है, ठीक उसी तरह राय कृष्णदास जैसे ज्ञानी-मर्मज्ञ ने भी उसे समझा था। तुलसीदास की भूमिका (‘परिचय’) म. वे लिखते हैं,

मन की अत्यंत ऊँची उड़ान से उन्होंने (तुलसीदास ने) देखा कि सब प्रकार भारत की सभ्यता एक जाल म. फँसी हुई है, जैसे सूर्य की आभा को राहु ने ग्रस लिया है। भारतीय संस्कृति किस प्रकार अधोगति को प्राप्त हुई इस का कवि ने मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। इस भारतीय संस्कृति को एक लहर की तरह मुस्लिम सभ्यता आक्रांत किए हुए थी; इसी विदेशी सभ्यता की लहर के ऊपर वह आलोकमय सत्य का लोक है जो इस समय हिन्दुओं की दृष्टि से ढँका हुआ है। बिना इस बीच के अंधकार को पार किए सत्य तक पहुँच नहीं हो सकती।⁷

इसम. संदेह न रहे कि यदि उपर्युक्त बात. निराला के बदले किसी और ने कही, लिखी होती तो उसे प्रगतिशील लेखक संघ के दबंग रहे डॉ. रामविलास शर्मा शब्दों म. गोली मार चुके होते! गालियों और व्यंग्य-वाणों से छलनी कर चुके होते। आज भी, कहीं वामपंथियों की उपस्थिति म. तुलसीदास के युग के बारे म. निराला की ऊपर्युक्त

बातों म. से एक भी कह कर देख ल., आप का कैसा सत्कार होता है! इसलिए, निराला के दिवंगत हो जाने के बाद उन्हें. और उन के काव्य को मार्क्सवादियों द्वारा 'प्रगतिशील' कवियों के खाने म. रखना एक प्रकार की रणनीति या धूर्तता ही रही है।

वैसे भी, निराला के तुलसीदास म. तात्कालीन युग की जो सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि दिखाई गई है, वह हमारे प्रसिद्ध वामपंथी प्रोफेसर्स की दृष्टि से घोर हिन्दू सांप्रदायिक विचार वक्तव्य है, जिसके लिए उनके शब्द-भंडार म. गालियों के सिवा कुछ नहीं रहा है। प्रमाणिक तुलना के लिए देखिए, सन् 1969 म. रोमिला थापर, हरबंस मुखिया और बिपन चंद्र द्वारा लिखित संयुक्त पुस्तिका 'कम्युनलिज्म एंड द राइटिंग ऑफ इंडियन हिस्ट्री'। इस म. थापर, मुखिया आदि ने मुगल शासकों पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ करने वालों को ही हिन्दू सांप्रदायिकता का जनक माना है। पिछले लगभग पचास वर्ष से हिन्दू सांप्रदायिकता की पहचान और उससे संघर्ष करने का बुनियादी मार्क्सवादी टेक्स्ट इसी पुस्तिका को माना जाता है। इसका हिंदी संस्करण *सांप्रदायिकता और इतिहास लेखन* कम्युनिस्ट पार्टी प्रेस से ही प्रकाशित हुआ था। इसम. पानी पी-पीकर उन सबको कोसा गया है जो भारत म. मुगल शासन को विदेशी शासन मानते हैं,⁸ तथा उसे भारतीय उन्नति का काल नहीं कहते। तदनुरूप मुगल शासन पर आलोचनात्मक लिखने वाले इतिहासकारों, जैसे यदुनाथ सरकार या रमेशचंद्र मजूमदार को मार्क्सवादियों ने सदैव अंतहीन गालियाँ दी हैं। इस की झलक उक्त पुस्तिका म. भी मिलेगी।

मगर वही आलोचनात्मक बात. निराला ने भी बड़ी स्पष्टता और विस्तार से लिखी हैं। कई स्थलों पर प्रेमचंद्र ने भी लिखी हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी लिखी हैं। बंकिमचंद्र और श्रीअरविन्द ने भी लिखी हैं। स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द ने भी कही है। इसलिए कही कि वास्तविक इतिहास ही वही है। सच्चे ज्ञानी या विद्वान के रूप म. निराला या यदुनाथ सरकार कुछ और लिख ही नहीं सकते थे! यही कारण है कि वही कथ्य निराला की अनेकानेक रचनाओं म. मिलता है। उन की एक बड़ी लंबी कविता 'महाराज शिवाजी का पत्र' भी है, जिस म. हिन्दू भावनाएं कूट-कूट कर भरी हुई हैं।

पहली बार निराला के 'परिमल' संग्रह म. छपी 21 पृष्ठों की कविता *महाराज शिवाजी का पत्र* बिना पढ़े नहीं समझा जा सकता कि उसम. किन विचारों को निरूपित किया गया है। और क्यों शर्मा जी के पूरे संप्रदाय को उसे देख कर ही मर्मांतक कष्ट होता है। यदि भारत पर कम्युनिस्ट कभी सत्ता म. आते तो निसंस्देह इसे और *तुलसीदास* को भी प्रतिबंधित साहित्य की श्रेणी म. डाल दिया गया होता। वैसे, बिना शासन पर स्वयं आरूढ़ हुए भी जिस हद तक विद्वत अकादमियों, विश्वविद्यालयों म. मार्क्सवादी सत्ता बनी, वहाँ सहज देखा जा सकता है कि यह कविता कहीं, किसी पाठ्यक्रम या विचार-विमर्श म. नहीं रही। बादशाह औरंगजेब के सेनापति राजा

जयसिंह को छत्रपति शिवाजी द्वारा लिखा गये पत्र के, निराला की कविता म. कुछ अंश वेद

*मोगल-दल-विगलित-बल
हो रहे हैं राजपूत,
बाबर के वंश की
देखो आज राजलक्ष्मी
प्रखर से प्रखरतर-प्रखरतर दीखती*

...

*सुना है मैंने, तुम
सेना से पाट दक्षिणा-पथ को
आए हो मुझ पर चढ़ाई कर,
जय-श्री, जयसिंह!
मोगल-सिंहासन के
औरंग के पैरों के
नीचे तुम रक्खोगे,
काढ़ देना चाहते हो दक्षिण के प्राण
मोगलों को तुम जीवनदान,
काढ़ हिन्दुओं का हृदय,*

...

*क्या कहूँ मैं,
लूँ गर तलवार,
तो धार पर बहेगा खून
दोनों ओर हिन्दुओं का, अपना ही।
उठता नहीं है हाथ
मेरा कभी नरनाथ
देख हिन्दुओं को ही
रण म. विपक्ष म.।
हाय री दासता!
पेट के लिए ही
लड़ते हैं भाई-भाई
कोई तुम ऐसा भी कीर्तिकामी।*

...

*तुम्ह. यहाँ भेजा जो
कारण क्या रण का?*

एकयही निस्संदेह,
हिन्दुओं म. बलवान
एक भी न रह जाए।

...
गुप्त भेद एकमात्र
है यही औरंग का,
समझो तुम,
बुद्धि म. इतना भी नहीं पैठता?

...
और भी कुछ दिनों तक
जारी रहा ऐसा यदि अत्याचार, महाराज,
निश्चय ही, हिन्दुओं की
कीर्ति उठ जाएगी
चिन्ह भी न हिन्दू सभ्यता का रह जाएगा।

...
कैसी चाल चलता है रण म. औरंगजेब?
बहुरूपी, रंग बदला ही किया।
सांकल. हमारी हैं
जकड़ रहा है वह जिनसे हिन्दुओं के पैर।
हिन्दुओं के काटता है सीस
हिन्दुओं की तलवार से।

....
यदि एकीभूत शक्तियों से एक ही
बन जाए परिवार,
फैले समवेदना,
एक ओर हिन्दू एक ओर मुसलमान हों,
व्यक्ति का खिंचाव यदि जातिगत हो जाय,
देखो परिणाम फिर,
स्थिर न रह.गे पैर यवनों के
पस्त हौसला होगा
ध्वस्त होगा साम्राज्य।

...
आयेगी भाल पर
भारत की ज्योति,

हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से,
दासता के पाश कट जायेंगे।

...

यदि यह शिवाजी के प्रति निराला की श्रद्धा थी, तो राणाप्रताप पर निराला ने संपूर्ण उपन्यास ही लिखा। अर्थात्, ठीक वे दोनों महान ऐतिहासिक हिन्दू नायक, जिन से मार्क्सवादी जैसे ही भड़कते हैं जैसे लाल रंग से साँढ़।

निराला का उपन्यास *महाराणा प्रताप* शुरू ही इस तरह होता है: “मुगलों के जीवनकाल म. जिन वीरों ने अपने सर्वस्व का बलिदान करके अपनी जाति, धर्म, देश और स्वतंत्रता की रक्षा की, उनम. अधिक संख्या राजपूत वीरों की ही देख पड़ती है, जैसे मुसलमानों की दुर्दम शक्ति का प्रतिरोध करने के लिए ही उन वीर राजपूतों की शक्ति-रेखा विधाता ने खींची हो।”⁹

ऐसे आरंभ से ही भारत म. विचारधारा की लड़ाई लड़ने वाले वामपंथी, और गैर-वामपंथी भी, समझ जाएंगे कि पूरे उपन्यास का कथ्य और संदेश क्या होने वाला है। इसीलिए *निराला ग्रंथावली* के कम्प्युनिस्ट संपादक फिर भी यह क्षुद्र संकेत करने से बाज नहीं आए कि यह सब ‘बाजार के लिए लिखा गया था’¹⁰ और महाराणा प्रताप के ‘चरित्र को इस्लाम-विरोधी के रूप म. न देखकर स्वतंत्रता के लिए प्राणपन से संघर्ष करने वाले योद्धा के रूप म. देखना चाहिए।’ अर्थात्, पहले तो पाठक यह समझ. कि निराला ने यह सब कुछ ‘बाजारू’ चीज लिखी थी। मगर जब लिख ही दी तो इसे ऐसे नहीं जैसे देखना चाहिए, जैसे कम्प्युनिस्ट मार्ग-दर्शक दिखा रहे हैं।

तुलसीदास, शिवाजी, महाराणा प्रताप पर विस्तार से लिखने के अलावा निराला ने बड़े मनोयोग से श्रीरामकृष्ण परमहंस के वचनों, उपदेशों का संपूर्ण हिन्दी अनुवाद भी किया है। स्वामी विवेकानन्द के अंग्रेजी भाषणों का तथा उनकी पुस्तक का भी हिन्दी अनुवाद किया। विवेकानन्द के ‘राजयोग’ का हिन्दी रूपांतर निराला के अलावा कोई और उसी निष्ठा से कर भी नहीं सकता था। भगवान राम, कृष्ण और हिन्दू देवी-देवताओं की अभ्यर्थना म. निराला ने अनेक कविताएं भी लिखीं। उनके काव्य म. ज्ञान के साथ-साथ स्वर-योग भी है। उसम. एक धर्म-प्राण, आस्थावान योगी का संदेश बारम्बार है।

उदाहरण के लिए: ‘कामरूप, हरो काम; जपूँ नाम, राम, राम।’ एक स्थल पर तुलसी और कबीर का अक्षरशः अनुकरण करते हुए निराला लिखते हैं, ‘राम के हुए तो बने काम, सँवरे सारे धन, धान धाम।’ मानो आधुनिक, नास्तिक या सेक्यूलरवादी संदेह को ही संबोधित करते निराला वहीं जोड़ते हैं, ‘पूछा जग ने, वह राम कौन? बोली विशुद्धि जो रही मौन, वह जिसके दून न ड्योढ़-पौन, जो वेदों म. है सत्य, साम।’ एक और जगह हरि-नाम की महिमा म. गदगद होकर निराला लिखते हैं, ‘बहुविध तुम्हारा उपाख्यान गाया फिर भी कहा अन्त अब भी न पाया...’ अंततः यह भी कि,

‘अशरण-शरण राम, काम के छवि-धाम’ तथा ‘हरि-भजन करो, भू-भार हरो, भव सागर निज उद्धार तरो।’¹¹ कई बार साहित्य उत्सवों में म. निराला जिन कविताओं को सस्वर सुनाते थे, वह थीं ‘वरद हुई शारदा जी हमारी’, तथा ‘जिधर देखिए श्याम विराजे’।¹² यह संयोग नहीं कि निराला द्वारा लिखित अंतिम कविता ‘हाथ वीणा समासीना, विशद वादन रत प्रवीणा’ देवी सरस्वती के सम्मान में लिखी गई।¹³

अतः निराला का काव्य व चिंतन गोस्वामी तुलसीदास वाली मनीषा परंपरा में है। वह विशुद्ध हिन्दू मनीषा जो भारत पर इस्लामी, अंग्रेजी आक्रमणों से त्रस्त हुई, जो मुगल शासन को भी गुलामी काल मानती है जिससे हमारी संस्कृति तहस-नहस हुई। निराला चिंतन का किसी रेडिकल, प्रगतिवादी मानसिकता से दूर-दूर तक कोई संबंध नहीं है। केवल *तुलसीदास* ही नहीं, निराला का संपूर्ण लेखन उस वैचारिकता के विरुद्ध खड़ा है जो मार्क्सवादी प्रचारकों ने तिकड़म के सहारे विश्वविद्यालयों में दशकों से फैला रखा है। ‘गंगा-जमुनी संस्कृति’ की मधुर संज्ञा में वह विषैली लफ्फाजी, जो मुगल काल में कथित रूप बनी किसी हिन्दू-मुस्लिम ‘मिश्रित’ संस्कृति को ही भारतीय संस्कृति बताती है। उससे भिन्न कुछ भी केवल घृणित हिन्दू सांप्रदायिकता। यह विचारधारा सन् 1960 के बाद कम्युनिस्ट प्रचारकों के षडयंत्र, सत्ता-समर्थित जबर्दस्ती और गाली-गलौज की धौंस से फैलाई गई। विशेषकर विश्वविद्यालयों के इतिहास और साहित्य विभागों में। वहाँ से लंबे समय तक निर्बाध रिसते-रिसते वह धीरे-धीरे बच्चों की पाठ्य-पुस्तकों, पत्रकारों तथा अंततः मीडिया का भी प्रधान स्वर बन गई।

तब हैरत हो सकती है कि हिन्दी साहित्य में वामपंथियों ने निराला को प्रगतिवादी बिल्ला किस तरह दिया! जिस समय निराला राम, कृष्ण, दुर्गा, शारदा तथा तुलसीदास, राणा प्रताप, शिवाजी की पूजा में लगे हुए थे, उसी समय डॉ. रामविलास शर्मा उतनी ही भक्तिपूर्वक तब के कुख्यात कम्युनिस्ट तानाशाह स्तालिन की पुस्तक हिस्ट्री ऑफ दि कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ द सोवियत यूनियन (बोल्शेविक)रू ए शार्ट कोर्स का अनुवाद करने में लगे हुए थे। गाली-गलौज से भरी हुई यह पुस्तक 1938 से 1956 के बीच दुनिया भर के कम्युनिस्टों की बाइबिल रही है। मार्क्सवादियों का लगभग संपूर्ण संज्ञा-विशेषण भंडार इसी पुस्तक का ऋणी है!

इसलिए चाहे निराला ने युवक ‘रामविलास’¹⁴ को आरंभ में अपना स्नेह दिया हो, किन्तु रामविलास ने निराला से कुछ नहीं सीखा! बल्कि उससे ठीक विपरीत सीखा। यही कारण रहा कि जहाँ निराला ने बड़े आत्मीय भाव से कवि अज्ञेय की अनुशंसा ‘सबसे अग्रणी कवि’ के रूप में की, परन्तु डॉ. रामविलास शर्मा के लेखन या कार्य पर निराला की कोई अनुशंसा देखने में नहीं आती। जबकि शर्मा जी का सक्रिय लेखन दो दशकों से अधिक निराला के जीवनकाल में रहा। स्पष्टतः निराला के लेखन-चिंतन से शर्मा जी का लेखन बिल्कुल विपरीत दिशाओं व भाव-भूमि में था।

शर्मा जी प्रगतिशील लेखक संघ के अनन्य नेता थे। प्रगतिशीलों के बारे में निराला की धारणा बड़ी खराब थी। एक वामपंथी लेखक ने ही नोट किया है, कि नवंबर 1936 में एक सभा में प्रगतिशीलों का विचार-व्यवहार देख कर निराला ने यह महसूस किया कि “प्रगतिशील लेखकों में अधिकांश वे ही हैं जो बड़े घरानों के हैं, ऊँची डिग्रियाँ और समाजवादी विचारधारा का एक बौद्धिक आवरण यूरोप से लेकर आए हैं तथा मुक्त घूमती हुई नव-शिक्षित आधुनिकाएँ हैं।”¹⁵ तथा निराला की नजर में, “ये प्रोग्रेसिव राइटर्स...लेखकों से ज्यादा नेता थे, विशेष रूप से हिंदी साहित्य से अपरिचित, लेकिन दूसरों को रास्ता बताने को उत्सुक थे।”¹⁶ ऐसे उत्सुक उद्धत प्रगतिवादी नेताओं में सबसे बड़े शर्मा जी ही हुए। यह भी इसी पुस्तक में विस्तार से दिया गया है, जो वैसे भी जानी-मानी बात है।

यदि लगे कि इस से प्रगतिवाद और मार्क्सवाद पर निराला की कोई सुचिंतित राय नहीं मिलती, तो नेहरू के साथ निराला की झड़प देखी जा सकती है। मार्क्सवादी-प्रगतिवादियों के लिए सदैव सबसे बड़ा ‘वैज्ञानिक’ तर्क सोवियत रूस का उदाहरण हुआ करता था। मानो मानवता की हर समस्या का समाधान वहाँ कर दिखाया गया, इसलिए कम्युनिस्टों की हर दलील प्रणाणिक है। शर्माजी भी सोवियत रूस के नाम से सैकड़ों बार इस या उस बात को पुष्ट करने की कोशिश करते रहे हैं। यह अलग बात है कि सोवियत व्यवस्था के बारे में अधिकांश बात खुद रूसी कम्युनिस्टों का झूठा प्रचार थी, जिसे तानाशाही और लौह-स.सरशिप के बल पर कम से कम दुनिया भर के वामपंथियों के बीच लंबे समय तक सफलता पूर्वक चलाया गया। फिर भी निराला, और प्रेमचंद भी, उन लोगों में नहीं थे जो ढोल-बाजे के साथ फैलाए गए हर आकर्षक प्रचार को मान लेते।

इसीलिए जब ठीक हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर नेहरू ने सोवियत संघ का उदाहरण दिया तो निराला ने उन्हें आड़े हाथों लिया, “क्या हिन्दुस्तान की दशा वैसी ही समझते हैं आप? संस्कृति, हिन्दू-मुस्लिम मनोवृत्तियाँ क्या वैसे ही वर्ग-युद्ध से दुरुस्त होंगी? यहाँ के मन की बिल्कुल दूसरी परिस्थिति है। हिन्दू-मुस्लिम समस्या का हल भी हिन्दी के नए साहित्य में जितना सही पाया जाएगा, राजनीतिक साहित्य में नहीं। इसलिए, कि राजनीति आपकी प्रभावित है पश्चिम से, जबकि साहित्य मौलिकता से पनपा है।”¹⁷

यदि ध्यान से देखें, तो इस छोटे से वक्तव्य में निराला ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के मूलाधार को ही खारिज कर दिया है। वर्ग-युद्ध, हिन्दू-मुस्लिम समस्या में मनोवृत्ति की भूमिका, राजनीति, साहित्य और साहित्य का मुख्य गुण इन पाँचों बिन्दुओं पर निराला के विचार मार्क्सवादियों, प्रगतिशीलों के ठीक विपरीत हैं।¹⁸

निराला के अनुसार, साहित्य का मुख्य गुण *मौलिकता* है, *विचारधारा* नहीं। (टॉल्स्टॉय ने भी साहित्य-कला की पहचान वही बताई है)। इसलिए विचारधारा को

बुनियादी तत्व मानने वालों का प्रगतिशील और गैर-प्रगतिशील का पूरा विभाजन ही दोषपूर्ण हो जाता है। उसी प्रकार, हिन्दू-मुस्लिम समस्या दोनों समुदायों की मनोवृत्ति की समस्या है, और बिना दोषपूर्ण मनोवृत्ति में बदलाव के उसका कुछ नहीं किया जा सकता। वर्ग-युद्ध की पूरी बात ही परिकल्पना भर थी। भारतीय वामपंथियों ने यह राजनीतिक विचार केवल पश्चिमी प्रभाव में ले लिया। उसे उन्होंने कोई परीक्षण करके नहीं स्वीकार किया, बल्कि महज अंधविश्वास में उस पर लडू रहे। नेहरू तो, खैर, वैसे भी हल्के किस्म के लेखक और राजनीति कमी थे। मगर क्या डॉ. रामविलास शर्मा की संपूर्ण विचारधारा ठीक उन्हीं अंधविश्वासों पर नहीं खड़ी थी, जिसे निराला ऊपर खारिज करते हैं? बात-बात में रूस का उदाहरण, बिना किसी प्रमाणिकता के, और वर्ग-युद्ध को राम-बाण की तरह हर रोग का एक इलाज मानना, हिन्दू-मुस्लिम समस्या को, बल्कि हर समस्या को, आर्थिक, वगीय आधारों पर समझाने की झक, और साहित्य में घोर पाटी-बंदी क्या शर्माजी का लगभग संपूर्ण लेखन इन्हीं से आप्लावित नहीं रहा? शर्मा जी ने निराला से सचमुच कुछ नहीं सीखा था!

उन्हें कुछ सीखना था भी नहीं। शर्माजी पहले ही मार्क्सवाद-लेनिनवाद-स्तालिनवाद को अपना दिल और दिमाग दोनों दे चुके थे। तभी उनका एक मात्र उद्देश्य यह रहा कि कैसे जनता को कम्युनिस्ट क्रांति के लिए उभारें, तैयार करें, और लेखक-कवियों को भी उसी को अपना लक्ष्य बनाने के लिए उकसाएँ, साम-दाम-दंड-भेद किसी तरह। यही लेनिन की सीख थी। इसीलिए जब भी शर्माजी किसी कवि या लेखक या किसी रचना पर लिखते थे, तो इस मूल राजनीतिक कसौटी से ही सब कुछ तौलते थे। कभी किसी वजनी लेखक-कवि के लेखन में मार्क्सवादी दृष्टि से कोई आपत्तिजनक बात मिल जाती, तो उसे चुपचाप छोड़ दिया जाता था, बाकियों की निर्मम लानत-मलानत होती थी।

तुलसीदास को ही ल.। रामविलास शर्मा ने जब भी निराला की इस रचना पर लिखा है, इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि गोल कर दी है। केवल तुलसीदास और निराला के व्यक्तित्व, मनोभाव, आत्मिक संघर्ष, आदि की तुलना पर ही क.द्रित रहे हैं। एकदम शुरू से ही, 1938 में शर्मा जी ने यही किया, और 1990 में भी। पहली वाली बानगी देखिए, शर्मा के शब्दों में 'तुलसीदास' में निराला ने "अपना पूरा द्वंद्व तुलसीदास पर आरोपित करके उसका विशद चित्रण किया है। भक्त कवि तुलसीदास के लिए यह संघर्ष, विजय-पराजय, तत्वों की क्रियाशीलता, सत्य हो या न हो, निराला के लिए अवश्य है। तुलसीदास में निराला ने अपनी प्रतिच्छाया देखी है, पुरातन कवि की मनोभूमि को उसने अपने संघर्ष का रंगमंच बनाया है। तुलसीदास भारत की सभ्यता के सूत्रधार हैं; और जो कुछ है, वह विरोधी, तमोगुणपूर्ण है। तुलसीदास इसी विरोधी तत्व से युद्ध करते हुए अन्त में 'अस्ति' को लिए हुए विजयी होते हैं।"¹⁹ बस, पूरी कविता पढ़कर रामविलास शर्मा को बस इतना ही कहना था! यह 1938 का लेख है।

दो वर्ष बाद शर्माजी निराला के *तुलसीदास* पर एक आधा लेख ही लिखते हैं। अर्थात्, निराला की दो पुस्तकों *अनामिका* और *तुलसीदास* पर। लेख छोटा ही है, तुलसीदास पर दो पृष्ठ दिए गए हैं, मगर वही बाजीगारी और सधे रूप में दिखती है। इस कविता की 'भाषा-क्लिष्टता', 'भाषा को इतना ज्यादा तोड़ा-मरोड़ा क्यों गया है?', तुलसीदास की भाषा से तुलना, फिर निराला के व्यक्तित्व की तुलसीदास के व्यक्तित्व से तुलना, 'वैचित्र्यपूर्ण व्यक्तित्व', 'भावों का द्वंद्व', 'विद्रोही रूप', रत्नावली का 'मोह', फिर रत्नावली का 'योगिनी' रूप, अंत में तुलसीदास को मिली 'शांति', और फिर पाठक को आभास होना कि अब तुलसीदास 'रामचरितमानस अवश्य लिख.गे'। पुस्तक की साज-सज्जा सुन्दर होने से यह जान पड़ना कि निराला का 'आदर बढ़ रहा है'²⁰ बस कविता के आरंभिक एक तिहाई हिस्से की अनिवार्य सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि का कोई नोटिस नहीं लिया गया है। यह तुलसीदास को पढ़कर शर्माजी की संपूर्ण प्रतिक्रिया है।

जरा इसकी तुलना ऊपर उद्धृत अज्ञेय की *तुलसीदास* पढ़कर की गयी प्रतिक्रिया से कर के देखें। लगेगा ही नहीं कि शर्माजी ने कोई कविता पढ़ी है। निराला के तुलसीदास पर शर्मा जी का लेख ऐसा लगता है, मानो किसी अखबारी समाचार पर टिप्पणी लिखी गई हो। यह युवा आलोचक रामविलास शर्मा की समझ थी। जो अंत तक नहीं बदली। हर लेखन उन के लिए मानो एक कच्चा माल थी जिसका 'जनता के संघर्ष' और 'पूँजीवादी सत्ता के विरुद्ध' कम्युनिस्ट संग्राम में कैसे उपयोग किया जाए, यही चिन्ता शर्मा जी के संपूर्ण लेखकीय भावजगत की चिन्ता रही।

इसीलिए *महाराज शिवाजी का पत्र* पढ़कर शर्मा जी को अंतहीन चिढ़ होती है, मगर कहें कैसे? आखिर निराला की रचना है! इस कविता में यह गुंजाइश भी नहीं कि तुलसीदास वाली बाजीगरी करके निकल जाएं। यानी कविता के ऐतिहासिक कैनवास को पूरी तरह नजरअंदाज करते हुए कवि के आत्मिक संघर्ष, निजी कष्ट, तुलसीदास से निराला के व्यक्तित्व की तुलना, मानसिक उद्वेग, आदि पर यह वह कुछ भी लिखते हुए अंततः प्रगतिवादी शर्मा जी तुलसीदास और निराला दोनों की आध्यात्मिकता और हिन्दू भाव पर स्वयं विजयी हो जाएं। इसलिए शर्मा जी की चिढ़ साफ झलक उठती है जब परिमल (निराला का वह काव्य संग्रह, जिसमें 'महाराज शिवाजी का पत्र' कविता छपी थी) पर लिखते हुए वे लिख जाते हैं, "शिवाजी का पत्र' मुक्त ही नहीं, उच्छृंखल भी है। गति के साथ विचारों का बंधन भी उसमें नहीं है। केवल अपने धारावाहिक वक्तृत्व के ओज पर ही बढ़ता चला जाता है, और कुछ लोगों को, जिन्हें 'परिमल' में अन्यत्र कुछ भी रस नहीं मिलता, अवश्य प्रभावित करता है।"²¹

इस दुष्ट, उच्छृंखल कविता, जिसमें विचारों का बंधन नहीं है मगर उन विचारों पर शर्माजी को क्या कहना है, इस पर सारा जीवन विचारधारा-विचारधारा रटते हुए ही सारा लेखन करने वाले शर्माजी एकदम चुप्पी लगा गए। और 'कुछ लोगों को',

जिन्ह. निराला की यह कविता बहुत प्रभावित करती है, शर्मा जी व्यंग्य से कहते हैं कि उन लोगों को उस कविता संग्रह म. 'अन्यत्र कुछ नहीं मिला'। यानी कैसे मूढ़ लोग हैं, जो और किसी कविता से नहीं, बल्कि ठीक इस गड़बड़, उच्छृंखल कविता 'शिवाजी के पत्र' से ही प्रभावित होते हैं! शर्मा जी का क्षोभ छिपाते-छिपाते भी उभर गया है। कि कम्युनिस्ट दिमाग की कसौटी पर यह घोर-मुस्लिम विरोधी, कट्टर हिन्दूवादी कविता, इतनी ओजपूर्ण और निराला द्वारा लिखी गई क्यों है, जिस की लानत-मलानत नहीं की जा सकती!

अतएव, कई कारणों से निराला पर डॉ. रामविलास शर्मा के लेखन को आधिकारिक मानना भारी भूल है। शर्माजी तो निराला जैसे कवियों, लेखकों को पुराने, पतनशील जमाने का नमूना जैसा मान रहे थे, जिन्ह. बाद म. कवि भी नहीं माना जाएगा। यह शर्मा जी का मार्क्सवादी अंधविश्वास था, जिससे वे ऐसी विचित्र बात लिख सके, "आने वाले युग म., राजनीति को लिए हुए साहित्य के अंतरंग घोर संघर्ष म., निराला को कोई साहित्य सिंहासन पर बिठाएगा, यह भी कल्पना म. नहीं आता।"²² यह किसी साहित्य समालोचक का मूल्यांकन हो ही नहीं सकता था। यदि शर्माजी को ऐसा महसूस हुआ तो इसलिए क्योंकि वे मूलतः कम्युनिस्ट अंध-विश्वासी थे, जिसे लगता था कि आगे कम्युनिज्म की अग्रगति के साथ केवल राजनीति के साथ चलने वाले कवि ही कवि माने जाएंगे। शर्मा जी को कविता, काव्य और कवियों के मूल्यांकन की कैसी समझ थी, वह उन के इस एक वक्तव्य से देखी जा सकती है।

पूरे पचास वर्ष तक शर्मा जी निराला पर जब-तब लिखते रहे। मगर सच यह है कि उन्होंने निराला को निराला के अपने विचारों, मूल्यों की दृष्टि से नहीं परखा। बल्कि हर जगह, जिद्दपूर्वक, निराला म. अपने कम्युनिस्ट विचारों को भरने की हठधमी की। इस निरंतरता, और आत्मविश्वास पूर्वक, जो सदैव अपनी ही दुनिया म. रहने-बहने वाला जड़-अंधविश्वासी ही कर सकता है। देखिए, सन् 1990 म. शर्मा जी निराला पर क्या और किस तरह लिखते हैं। लगभग सोलह पृष्ठों का यह लेख है, "प्रगतिशील कविता और निराला", जिसकी शुरुआत होती है इस तरह: 'दूसरे महायुद्ध के दौरान भारत की जनता ने बहुत दुख सहे, साथ ही उसके सबसे सचेत अंश ने पूँजीपतियों और पूँजीवादी नेताओं की नीति भी पहचानी और साम्राज्यवादी दासता से मुक्ति पाने के लिए उसका मनोबल और दृढ़ हुआ।'²³ इस आरंभ के साथ पूरा एक पन्ना केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं पर लिखा गया है। फिर जवाहरलाल से निराला की बातचीत का एक हवाला आता है। फिर एकाएक शर्माजी घोषणा कर देते हैं, "युद्धकाल म. निराला प्रगतिशील विचारधारा को आत्मसात कर स्वाधीनता आंदोलन के साथ निरंतर आगे बढ़ रहे थे। सन् 42 के अंतिम चरण म. अपनी बीमारी के बाद अपना दुर्बल शरीर संभालने का प्रयास करते हुए वे प्रगतिशील लेखकों की बैठकों म. शामिल होने लगे थे।"²⁴

पर यह आज तक शर्मा जी ने नहीं बताया कि उन बैठकों म. निराला ने क्या कहा, या बैठकों के बारे म. क्या कहा, या कम्युनिस्टों की विचारधारा, समाजवाद आदि पर क्या कहा, कुछ कहा-लिखा भी कि नहीं? बस, हर जगह केवल निराला का नाम देकर उसके बाद अपनी ही लपफाजी से शर्मा जी ने काम चलाया है। यहाँ, इस लेख म. भी, कभी निराला की किसी कविता की दो पंक्ति देकर, या नेहरू पर निराला का कोई व्यंग्य वाक्यांश भर देकर, जिस से प्रगतिवाद का कोई संबंध नहीं है, शेष उन्होंने केदार, गिरजा कुमार माथुर, आदि अन्य कवियों के डेरों उद्धरण दिये हैं, ताकि किसी तरह 'मजदूर के संघर्ष', 'मिल-मालिक', 'शोषण की चक्की', आदि जरूरी शब्दावली लाई जाए, और फिर अपना रटा-रटाया कम्युनिस्ट नेता वाला भाषण भर डाला है। निराला का अपना कहा हुआ कुछ न मिला तो क्या हुआ, निराला पर किन्हीं अनाम दूसरों के हवाले खुद शर्मा जी स्वयं घोषित कर देते हैं कि "उस समय का शायद ही कोई कवि हो जिसने क्रान्ति से निराला का संबंध न जोड़ा हो।"²⁵ अब क्रान्ति का सीधा अर्थ तो प्रगतिवादी-कम्युनिस्ट क्रांति ही है। यह हो गया, शर्माजी का निराला के प्रगतिवाद से संबंध पर लेख!

इसी लेख म., और हर कहीं देखा जा सकता है, कि शीर्षक म. 'प्रगतिवाद' देकर, या लेख, पुस्तक म. भी निराला को प्रगतिवादी, वामपंथी, कम्युनिस्टों से सहानुभूति रखने वाला, आदि आदि दावे करते हुए शर्माजी कोई स्पष्ट, ठोस प्रमाण या उद्धरण नहीं दे पाते। इसीलिए, उक्त लेख के शीर्षक म. 'निराला' और 'प्रगतिशील' देकर अंदर लेख म. निराला के छंद, छंद की गूँज, पंक्ति विन्यास, अनुप्रास, शैली, बंध, आवृत्ति, यति, विराम आदि बिन्दुओं पर विस्तार से लिखा मिलता है। इन्हीं बिन्दुओं से संबंधित निराला के डेर से लंबे-लंबे उद्धरण भी दिए गए हैं। जबकि मजदूर, किसान, कम्युनिस्ट आदि भाव वाली कविताओं के उद्धरण किन्हीं और कवियों के दिए गए हैं। यदि कोई सरसरी तौर पर नजर डालते हुए बढ़ता जाए तो उसे गलतफहमी हो सकती है कि गिरजा कुमार, केदारनाथ, पंत, नरेन्द्र शर्मा, आदि की वे पंक्तियाँ, बल्कि लंबे-लंबे पाराग्राफ, पन्ने के पन्ने कविता उद्धरण निराला के होंगे, क्योंकि शीर्षक म. निराला है! मगर केवल शीर्षक म. निराला और प्रगतिवाद है। अंदर का माल सारा या तो दूसरे कवियों की कम्युनिस्टोपयोगी रचनाओं का है या फिर शर्माजी की अपनी ही सपाट घोषणाएं जो खींच-तान कर, जबरन निराला को प्रगतिशील बता-बता कर आत्मतुष्ट होती रहती हैं।

इसका सबसे अच्छा उदाहरण शर्माजी की वह पुस्तक ही है जिसे निराला पर सबसे आधिकारिक लेखन की गलत संज्ञा मिली हुई है। अर्थात्, *निराला की साहित्य साधना*। तीन खंडों की इस पुस्तक का दूसरा खंड 'विचारधारा और कला का विवेचन' को समर्पित है। निराला की विचारधारा को क.द्र म. रखकर लगभग डेढ़ सौ पन्ने म. वास्तव म. शर्माजी ने अपनी विचारधारा का प्रतिस्थापन, पोषण करने का काम किया

है। इस विचारधारा वाले भाग के पंद्रह लेखों के शीर्षक ही यह संकेत दे देते हैं। “अंग्रेजी राज और भारतीय जनता”, “राजा, जमींदार और किसान”, “द्विज और शूद्र”, “नारी की स्वाधीनता”, “शास्त्र और रूढ़िवाद”, “राष्ट्रीय एकता और मुसलमान”, “जवाहरलाल नेहरू और समाजवाद”, “सामाजिक परिवर्तन और साहित्य”, “हिन्दी साहित्य: आंतरिक संघर्ष”, आदि निराला की विचारधारा पर लिखे लेखों के शीर्षक हैं। यह सब वास्तव म. शर्माजी और भारत म. कम्युनिस्ट विचारधारा की चिंताएं थीं, निराला की नहीं।

ऊपर हम देख चुके हैं कि निराला साहित्य म. विचारधारा को महत्त्वपूर्ण मानते ही नहीं थे। कविता म. वह स्वर-योग और संगीत की चिंता करते थे। जहाँ तक फिर भी विचारों की बात है, तो निराला की चिंताएं आद्योपांत आध्यात्मिक दार्शनिक रहीं। उन्होंने अपने लेखन का आरंभ और अंत, दोनों ही आध्यात्म पर किया है। मृत्यु से ठीक पूर्व अपने सार्वजनिक मंचीय पाठों म. वे कृष्ण, शारदाजी आदि देवी-देवताओं पर लिखी अपनी कविताएं सस्वर, मगन होकर सुनाते थे।

फिर जब निराला गाँधी, नेहरू जैसे राजनीतिकों से उलझने भी गए, तो सारी बात भाषा के महत्त्व और हिन्दी की भूमिका पर थी। राजनीति पर निराला का यदि कोई ध्यान था तो इसी रूप म. कि बड़े राजनीतिज्ञ अपने विचारों और प्राथमिकताओं म. कहाँ गलती कर रहे हैं। निराला द्वारा ‘बापू यदि तुम मुर्गी खाते’ तो तुम्ह. ऐरे-गैरे, पाखंडी नहीं पूज रहे होते, किसी क्षणिक रौ म. लिखी गई कविता नहीं है। यह 1940 म. लिखी गई, जबकि इस बात की पहली चर्चा निराला ने अपने निकट बैठे किसी व्यक्ति से 1938 म. की थी। अर्थात्, कम से कम पूरे दो वर्ष निराला ने इस पर सोचा और पक्के निर्णय पर पहुँचे कि गाँधी यदि मांसाहारी होते, यानी किसी कारण संत वाली छवि, रूपक उनके साथ न होता तो उन्हें. इतनी महत्ता नहीं मिली होती। विशेषकर हर तरह के पाखंडियों, दागियों, कायरों के बीच गाँधी की लोकप्रियता के पीछे जो व्यंग्य है, वह ठहर कर विचार करने की चीज है। यदि निराला का कोई विशिष्ट राजनीतिक विचार है, तो ऐसे ही लेखन म.।

मगर कहाँ है, शर्मा जी द्वारा निराला की विचारधारा पर लिखे ग्रंथ म. इन बिन्दुओं का स्थान? रामायण पर निराला ने 20 खंडों की पुस्तक लिखी। मगर शर्माजी द्वारा निराला की विचारधारा म. “अंग्रेजी राज और भारतीय जनता”, “राजा, जमींदार और किसान”, “शास्त्र और रूढ़िवाद”, “जवाहरलाल नेहरू और समाजवाद”, “सामाजिक परिवर्तन और साहित्य”, “हिन्दी साहित्य: आंतरिक संघर्ष” आदि अवतरित हो गए हैं!²⁶ यह सब प्रगतिवादी-कम्युनिस्ट पार्टी स्कूल म. नए रंगरूटों को पढ़ाने के विषय थे। चूँकि शर्माजी को इन्हीं विषयों को पढ़ाना, रटाना था, इसलिए वे निराला के बहाने भी अपनी विचारधारा को धार दे रहे थे। शर्मा जी ने पूरी निष्ठा से, निरपवाद रूप म. सदैव यही किया। निराला का एकाध जुमला, वह भी प्रायः संदर्भहीन, कुछ भिन्न अर्थ

रखने वाला, मगर उसी को यहाँ वहाँ जोड़ने हुए शर्मा जी अपने ही विचारों से भरकर निराला की विचारधारा म. राजा, जमींदार, किसान, रूढ़िवाद, आदि को मुख्य चिंताएं बनाने का यत्न कर निराला को जैसे-तैसे प्रगतिशील बताने की कोशिश करते हैं।

ऊपर “प्रगतिशील कविता और निराला” वाले लेख म. भी शर्माजी ने दावा किया कि ‘युद्ध काल म. निराला प्रगतिवादी विचारधारा को आत्मसात कर स्वतंत्रता आंदोलन म. आगे बढ़ रहे थे’। तर्कपूर्ण होता कि इस दौर म., यानी 1939 से 1945 तक निराला ने जो लिखा, बोला, किया उस का कोई हवाला दिया जाता। मगर वह गधे के सिर से सींग की तरह शर्मा जी के संपूर्ण लेख म. गायब है! यहाँ तक कि जो लेख शर्माजी ने 1944 म. भी निराला पर लिखा है, वहाँ भी ऐसा कोई प्रसंग उद्धृत नहीं है। जबकि वह वही युद्ध वाला दौर है, जब शर्माजी के दावे के अनुसार निराला प्रगतिशील हो चुके थे। मगर शर्माजी सारी चर्चा मुक्त-छंद, काव्य सौष्ठव, गठन, कौशल आदि पर करते हैं!²⁷ शर्माजी जैसे जिद्दी कम्युनिस्ट के लिए, जो किसी भी विषय पर लिखते हुए मजदूर, पूँजीवाद, शोषण, जनता का संघर्ष, आदि अपने प्रिय बीज-शब्दों को डाले बिना नहीं रहते थे, निराला पर लिखे 1944 के लेख म. ऐसी कोई बात क्यों नहीं मिलती जो उसी काल म. ‘निराला के प्रगतिवादी विचारधारा को आत्मसात’ कर लेने का दूर से भी कोई संकेत दे सकती हो?

शर्मा जी का लेख हर विषय पर उनके अपने पहले से तयशुदा निष्कर्ष से शुरू होता है। फिर उस म. वे जरूरत के मुताबिक हर तरह के प्रासंगिक, अप्रासंगिक, दूर या बहुत दूर का समाचार, वक्तव्य, कविता या पत्र के उद्धरण के साथ उसी निष्कर्ष को बार-बार विज्ञापन की तरह दुहराते हैं। शर्मा जी के अधिकांश लेख इसी तरह के हैं। किसी दीन-दुर्बल के प्रति संवेदना, करुणा प्रकट करने वाली कविता-पंक्ति दिखाकर यह कहना कि निराला ‘प्रगतिवादी विचारधारा के साथ चल रहे थे’, उसी तरह की घोषणा है, जैसे कोई कहे कि टॉल्स्टॉय रूसी बोल्शेविकों के साथ चल रहे थे। क्योंकि उन्होंने रूस म. भूदास-किसानों की स्थिति पर मार्मिक लेख लिखे थे।

यदि वास्तव म. स्वयं निराला के लेखन, वक्तव्यों और कार्यों को आधार बना कर देखा जाए, तो आरंभ से अंत तक निराला एक हिन्दू आध्यात्मिक कवि और चिंतक थे। जिस समय शर्माजी निराला के प्रगतिवादी यानी कम्युनिस्ट समर्थक बन जाने का दावा करते हैं, उसी दौर की उनकी रचनाएं हैं *शिवाजी का पत्र*, *तुलसीदास*, *राम की शक्तिपूजा* और रामकृष्ण परमहंस एवं स्वामी विवेकानन्द के वचनों, भाषणों का अनुवाद। बल्कि निराला के संपूर्ण जीवन काल म. ऐसी ही रचनाएं और लेख लिखे गए हैं। कितने लोग जानते हैं कि निराला ने रामायण पर 20 खंडों म. टीका लिखी है? या महाराणा प्रताप, भीष्म, भक्त प्रह्लाद, भक्त ध्रुव,²⁸ पर पूरे के पूरे उपन्यास लिखे हैं?

इनके अलावा, जरा निराला के विस्तृत निबंधों, लेखों के शीर्षक भर ही देख लीजिए, “तुलसीकृत रामायण म. अद्वैत तत्व”, “विज्ञान और गोस्वामी तुलसीदास”,

“श्रीदेव रामकृष्ण परमहंस”, “युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण”, “भारत म. श्रीरामकृष्णावतार”, “वेदान्त केशरी स्वामी विवेकानन्द”, आदि²⁹ कब लिखे गए थे, यह सब लेख? उनके प्रगतिवादी बनने से पहले या बाद म.? शर्मा जी जैसे कम्युनिस्ट प्रचारकों के लेखन म. ऐसे प्रश्नों के उत्तर नहीं मिलेगे। उनकी निराला की साहित्य साधना के ‘विचारधारा’ वाले खंड म. भी इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं मिलेगा। क्योंकि कटिबद्ध वामपंथी प्रचारक ‘शूट एंड स्कूट’ की तकनीक पर चलते हैं। कुछ भी जोर-जोर से बोल दो, और चल दो। जिसने सुना, उस पर जितना असर पड़ा, पड़ा। किसी श्रोता या पाठक द्वारा कुछ पूछने, उसकी शंकाओं का उत्तर देने और अपने दावों के प्रमाण देने की परवाह ही मत करो! यह है शूट एंड स्कूट की तकनीक, जिसका उपयोग सारे वामपंथी प्रचारक करते रहे हैं।

इसीलिए शर्मा जी जैसे लोगों द्वारा निराला पर लिखी सभी बातों को मूलतः अपने कम्युनिस्ट प्रचार के लिए निराला का दुरुपयोग करने के रूप म. ही देखना चाहिए! जैसे रूसी मार्क्सवादियों ने लेव टॉल्स्टॉय या पुश्किन को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया था, उसी तरह रामविलास शर्मा ने निराला या प्रेमचंद पर किया है। उस म. टॉल्स्टॉय या निराला की आत्मा की जानबूझ कर हत्या की जाती है। ताकि कम्युनिस्ट राजनीति को बल पहुँचाने म. उन महान नामों का सहारा लिया जाए, जिन म. जनता की श्रद्धा है। टॉल्स्टॉय के बहाने लेनिन-स्तालिन म. भक्ति जगाने का लक्ष्य रहता है। साहित्य का नहीं, राजनीति का लक्ष्य। वह भी समाज-घातक राजनीति का। यही मानसिकता शर्मा जी और उन जैसों के लेखन म. कूट-कूट कर रही है। अतः तुलसीदास और निराला के काव्य को गुनने-समझने म. शर्मा जैसों का लेखन नितांत बाधक है, सहायक नहीं।

यह सारी दुनिया का निरपवाद अनुभव है कि कथित प्रगतिशील लेखक, आलोचक, आदि मूलतः राजनीतिक प्रचारक रहे हैं। इसीलिए शर्मा जी ने निराला, प्रेमचंद या वृंदावनलाल वर्मा के साहित्य म. भारत पर इस्लामी आक्रमण, उस की मनोवृत्ति और शासन आदि के बारे म. की गई आलोचनात्मक टिप्पणियों, उन की धर्म-निष्ठा तथा वृहत हिन्दू समाज की सच्ची भावनाओं को या तो चुपचाप छोड़ दिया है, अथवा उस की मनगढ़ंत, तोड़ी-मरोड़ी व्याख्याएं की हैं।

निराला के संपूर्ण काव्य म. तुलसीदास की ही तरह हिन्दू आध्यात्मिक आभा है। इस पर शर्माजी ने भारी पर्दा डालने की हरचंद कोशिश की, क्योंकि निराला को ‘रास्ता दिखाने’ की उन्ह. हिम्मत नहीं पड़ी, या ऐसा करने म. हानि की संभावना दिखी। इसीलिए, जैसा निर्मल वर्मा ने कहीं लिखा है, जहाँ निराला का लेखन शर्माजी के मार्क्स-लेनिन-स्तालिनवादी साँचे म. फिट नहीं होता वहाँ शर्मा जी ने निराला को समेट-सिकोड़ कर उस म. जबरन समाने का प्रयत्न किया! अतः निराला को ठीक से समझने म. शर्माजी जैसों का लेखन नितांत बाधक है। उस से दूर रहकर ही कविता निराला के तुलसीदास और स्वयं कवि तुलसीदास को भी पढ़ना-गुनना चाहिए।

वस्तुतः हिन्दी साहित्य लेखन, प्रकाशन और अध्यापन म. प्राण लौटाने के लिए संपूर्ण प्रगतिवादी प्रचार-लेखन को अजायबघर म. रख देना जरूरी है। उस ने हमारे उदीयमान कवियों, लेखकों, पत्रकारों, विद्यार्थियों के लिए बौद्धिक अफीम का काम किया है। साहित्य की रस-धारा, प्राण-धारा के बदले उस के नाम पर नशीला द्रव्य खिलाने का काम किया है। उस की पिनक से जब तक हिन्दी साहित्य लेखन-व्यापार से जुड़े लोग नहीं उबर.गे, इस का दैन्य, राजनीति के अनुचर होने की वृत्ति, आत्मसम्मान-हीनता और बौद्धिक मरियलपन खत्म नहीं होने वाला।

संदर्भ-टिप्पणियाँ

1. पूरे प्रसंग के लिए देख., रमेशचंद्र शाह, “स्वर विवादी ही लगा: गाँधी और निराला”, नेपथ्य से, (नई दिल्ली: किताबघर प्रकाशन, 2002), पृ. 42
2. अज्ञेय, “वसन्त का अग्रदूत”, स्मृतिलेखा (नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1996), चौथा संस्करण, पृ. 62
3. श्रीसूर्यकान्त त्रिपाठी ‘निराला’, (प्रयाग: लीडर प्रेस, वि. संवत् 2008), पृ. 62. इस पुस्तक म. ई.सन् म. निराला ने 22 दिसंबर 1938 की तारीख दी है, जो पुस्तक के प्रकाशन म. जाने की तारीख है।
4. श्रीसूर्यकान्त त्रिपाठी ‘निराला’, तुलसीदास, उपरोक्त, पृ. 71
5. वही, पृ. 75
6. वही, पृ. 75
7. (राय) कृष्णदास, “परिचय”, श्रीसूर्यकान्त त्रिपाठी ‘निराला’, तुलसीदास, उपरोक्त, पृ. 2
8. रोमिला थापर, हरबंस मुखिया और बिपन चंद्र, ‘सांप्रदायिकता और इतिहास लेखन’ (नई दिल्ली, 1970)। पूरी पुस्तिका म. जहाँ-तहाँ।
9. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, “महाराणा प्रताप”, निराला रचनावली, खंड 7, सं. नंदकिशोर नवल (नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1983), पृ. 195
10. “निराला रचनावली”, खंड 7, सं. नंदकिशोर नवल (नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1983), पृ. 9 तथा 12
11. “निराला की यह कविताएं आराधना” (प्रयाग: साहित्यकार संसद, लीडर प्रेस, 1953) तथा गीत गुंज (इलाहाबाद: वसुमति, 1970) म. देखी जा सकती हैं।
12. शिवगोपाल मिश्र, जयगोपाल मिश्र लिखित भूमिका, “निराला, गीत गुंज”, उपरोक्त, पृ. 38
13. श्री नारायण चतुर्वेदी, “भूमिका”, निराला, सांध्यकाकली (इलाहाबाद: वसुमति, 1969), पृ. 7
14. जब अज्ञेय को निराला ने पहली बार देखा तो शारीरिक डील-डौल म. रामविलास शर्मा से तुलना कर प्रशंसा की। देख., अज्ञेय, “वसन्त का अग्रदूत”, उपरोक्त, पृ. 61

15. कर्ण सिंह चौहान, “प्रगतिवादी आंदोलन का इतिहास” (नई दिल्ली: प्रकाशन संस्थान, 1998), पृ. 76
16. वही, पृ. 77
17. रमेशचंद्र शाह, “स्वर विवादी ही लगा: गाँधी और निराला”, उपरोक्त, पृ. 42-43
18. इसीलिए संभवतः अपने मंचीय वक्तव्य (14 नवंबर 1958?) म. निराला ने लोगों से जो प्रार्थना की थी, वह ध्यान देने योग्य है। उसे शिवगोपाल मिश्र तथा जयगोपाल मिश्र ने निराला के गीत गुंज, (उपरोक्त, पृ. 21) की भूमिका म. उद्धृत किया है। वह प्रार्थना, निराला के अपने शब्दों म., उनकी अंतिम इच्छा भी है: “मैं अब वृद्ध और कमजोर हो गया हूँ। सभी प्रकार की मानव व्याधियों ने मुझे घेर लिया है। किन्तु आप लोगों को मेरी सेवाओं के प्रति कुछ भी प्रेम और सम्मान हो, तो मेरी प्रार्थना है कि राष्ट्रभाषा की पताका ऊँची कर। हिन्दी की सेवा का व्रत लीजिए और स्वयं साहित्योत्पादन म. सहायता दीजिए। संस्कृत तथा अन्य राज्य भाषाओं का अध्ययन करिये और उनका सम्मान करिये। इससे मुझे शान्ति और सुख मिलेगा।”
19. रामविलास शर्मा, “कवि निराला”, भाषा, युगबोध और कविता (नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1981), पृ. 93
20. रामविलास शर्मा, “‘अनामिका’ और ‘तुलसीदास’”, भाषा, युगबोध और कविता (नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1981), पृ. 118-19
21. रामविलास शर्मा, “कवि निराला”, भाषा, युगबोध और कविता (नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1981), पृ. 91
22. रामविलास शर्मा, “कवि निराला”, भाषा, युगबोध और कविता (नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1981), पृ. 90
23. रामविलास शर्मा, “प्रगतिशील कविता और निराला”, रूपतरंग और प्रगतिशील कविता की पृष्ठभूमि (नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1990), पृ. 214-15
24. वही, पृ. 215
25. वही, पृ. 217
26. रामविलास शर्मा, “निराला की साहित्य साधना”, द्वितीय खंड (नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1972), पृ. 13-140
27. रामविलास शर्मा, “निराला और मुक्तछंद”, भाषा, युगबोध और कविता, उपरोक्त, पृ. 97-103
28. इन रचनाओं के लिए देख., “निराला रचनावली”, खंड 7, सं. नंदकिशोर नवल (नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1983)
29. इन लेखों के लिए देख., सूर्यकान्त त्रिपाठी ‘निराला’, संग्रह (प्रयाग: निरूपमा प्रकाशन, 1963), सं. रामकृष्ण त्रिपाठी

हिन्दी आलोचना का वैचारिक धरातलसोपान और संकट

कामेश्वर पंकज*

हिन्दी आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दु युग में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम विशेषकर “हिन्दी प्रदीप” (1877 ई.) से हुआ। आचार्य शुल्क जी के काल में यह परिपक्व हुआ, इसका फैलाव छायावाद काल के बाद हुआ और आज यह उत्तर-आधुनिकता के संरचनावाद के दौर में है। यहाँ तक की यात्रा में हिन्दी आलोचना को कई वैचारिक सोपानों और संकटों से गुजरना पड़ा है। इसका प्रथम सोपान भले ही भारतेन्दु-कालीन है, परन्तु संकट गार्सा-द-तासी के इतिहास लेखन (1839 ई.) से ही आरम्भ हो गया था।

गार्सा-द-तासी फ्रांस के एक विद्यालय में भारत की पूर्वी भाषाओं के अध्यापक थे। इनकी बहुचर्चित पुस्तक है “इस्तवार दल लितरेत्युर ऐ हुई ऐ ऐन्दुस्तानी” (प्रथम भाग 1839 ई. तथा द्वितीय भाग 1847 ई.)। इसमें हिन्दी-उर्दू के अनेक कवियों की जीवनियाँ, ग्रंथ विवरण एवं उद्धरण हैं। इनकी भाषा-दृष्टि यूरोपीय थी। इनका मानना था कि भारत की पूर्वी भाषा को जिन्हें वहाँ के लोग “हिन्दी” या “हिन्दवी” कहते हैं, उन्हें यूरोप के लोग “हिन्दुस्तानी” के नाम से जानते हैं। इसे मुसलमान फारसी लिपि में तथा हिन्दू देवनागरी लिपि में लिखते हैं। एक ही भाषा की दो लिपियाँ, वे मानते थे। भारतीय भाषाओं को देखने की यह अलगाववादी दृष्टि यूरोप की उपनिवेशवादी दृष्टि थी जिसे फ्रांस में बैठकर गार्सा-द-तासी ने व्यक्त की है। उनका लेखन और वक्तव्य तब (1868 ई.) आ रहा था, जब भारत में कचहरी की भाषा नीति पर द्वन्द्व छिड़ा था। उर्दू और हिन्दी भाषा, फारसी और देवनागरी लिपि पर सर सैयद अहमद और शिव प्रसाद सितारे हिन्द, राजा लक्ष्मण प्रसाद आमने-सामने थे। गार्सा-द-तासी इस झगड़े को हवा दे रहे थे। शुक्ल जी ने तासी के विचार को कुछ इस तरह उद्धृत किया है “इस वक्त हिन्दी की सिफत भी एक बोली (डाइलेक्ट) की रह गई है, जो

*डॉ. कामेश्वर पंकज, अध्यक्ष, स्नोतकोत्तर हिन्दी-विभाग, दर्शन साह महाविद्यालय, कटिहार (बिहार)

हर गाँव में अलग-अलग ढंग से बोली जाती हैं।” (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. 413) उन्होंने उर्दू को मजहबी जामा पहनाकर एकेश्वरवाद से जोड़कर ईसाइयत के करीब लाने का प्रयास किया। इसकी समीक्षा दृष्टि गुलाम भारत के शासक की दृष्टि थी। यहाँ जॉन गिलक्राइस्ट की चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी। ये एक चिकित्सक की हैसियत से ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिए भारत आए थे। इनकी भाषा अध्ययन में रुचि थी और इन्होंने भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया। जब फोर्ड विलियम कॉलेज की स्थापना (सन् 1800 ई.) हुई तो ये भाषा विभाग के अध्यक्ष बनाए गए। इन्होंने देशी भाषा की गद्य पुस्तकों को तैयार करने के लिए हिन्दी उर्दू की अलग-अलग व्यवस्था की। वस्तुतः यह भाषाई भेद से अधिक मजहबी भेद का प्रयास था। गार्सा-द-तासी इसी शृंखला में हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में गार्सा-द-तासी की पुस्तक को प्रथम प्रयास माना जाता है। इस पुस्तक का उपयोग जार्ज ग्रियर्सन ने अपने इतिहास लेखन में किया है। जार्ज ग्रियर्सन महान भाषा विज्ञ और ब्रज इतिहासकार थे। इन्होंने संस्कृत का गहन अध्ययन किया था। इनकी बहुत सारी पुस्तकों में से दो पुस्तकें माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नादर्न हिन्दुस्तान (सन् 1888 ई.) और लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने भारत की लगभग सभी भाषाओं का अध्ययन किया था। लगभग तैंतीस वर्षों (1894 से 1927 ई. तक) के अध्ययन और लेखन से भाषा सर्वेक्षण का कार्य पूरा किया गया था। यह महान कार्य था। उनकी भाषा दृष्टि विभाजक थी। इन्होंने भारतीय भाषाओं में संयोजक तत्त्वों को कम और विभाजक तत्त्वों को अधिक उजागर किया। ये फारसी की तरह संस्कृत को भी भारत के लिए विदेशी भाषा मानते थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में इनका बड़ा ही सम्मान है। सामग्री संकलन से लेकर विवेचन तक इनकी दृष्टि ऐतिहासिक रही है। ग्रियर्सन हिन्दी साहित्य को भारतीय साहित्य की निरन्तरता में नहीं मानते हैं। यह सिद्ध है कि हिन्दी साहित्य का भक्ति आंदोलन दक्षिण भारत से आई हुई भक्ति धारा से प्रेरित है। लेकिन ग्रियर्सन मानते हैं कि उत्तर भारत का भक्ति आंदोलन अचानक मेघ खंड की तरह प्रकट हुआ। ग्रियर्सन का इतिहास लेखन काल हिन्दी साहित्य के इतिहास में भारतेंदु युग था। ग्रियर्सन के विचार दृष्टि से दूर हिन्दी आलोचना साहित्य का स्वतंत्र स्वरूप बन रहा था “हिन्दी प्रदीप” जैसी पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षा के अतिरिक्त स्वतंत्र पुस्तक के रूप में भी लक्षण ग्रंथ और टीकाएँ रही थीं। समीक्षक के रूप में बदरीनारायण चौधरी “प्रेमघन” और बालकृष्ण भट्ट प्रमुख थे। आलोचना साहित्य के आरम्भिक काल में आलोचना की सूक्ष्मता और व्यापकता की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। आलोचना की अपेक्षाकृत ठोस धरातल मिश्रबंधुओं ने तैयार किया।

मिश्रबंधुओं की दो पुस्तकें “हिन्दी नवरत्न” (सन् 1910 ई.) और “मिश्रबंधु विनोद” (1913 ई.) महत्त्वपूर्ण हैं। “हिन्दी नवरत्न” में हिन्दी के श्रेष्ठ नौ कवियों की समीक्षा है और “विनोद” में हिन्दी के लगभग पाँच हजार कवियों का जीवन-वृत्त और

काव्य परिचय है। मिश्रबंधु ने निर्णयात्मक समीक्षा प्रणाली को जन्म दिया। इन्होंने हिन्दी के तत्कालीन नौ श्रेष्ठ कवियों को तीन श्रेणियों बृहत्त्रयी, मध्यत्रयी तथा लघुत्रयी में बाँटा। यद्यपि मिश्रबंधुओं ने अलग-अलग कवियों के लिए अलग-अलग मापदंड अपनाया, तथापि यह प्रयास इसलिए सराहनीय है कि कवियों की समग्र आलोचना का सूत्रपात यहीं से हुआ। मिश्रबंधु ने महावीर प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा प्रणाली भाषाई दोष निर्देश, पुस्तक समीक्षा आदि से आगे बढ़कर काव्य के भावजगत, जीवन-दर्शन, विचारधारा, कला पक्ष आदि पर विचार करना आरम्भ किया। इनका विचार था कि समालोचना में रस, अलंकार, छवि आदि के अतिरिक्त “अन्य बहुत-सी बातों” का भी विचार करना पड़ता है। अन्य बहुत-सी बातों का तात्पर्य कला और भाव जगत के अतिरिक्त भाषाई और जातीय संवेदना, विचार समग्रता आदि से है। मिश्रबंधु की यह देन ही है कि इन्होंने कवियों की समग्र और स्वतंत्र समीक्षा के लिए मार्ग प्रशस्त किया। आचार्य शुक्ल जी ने समीक्षा साहित्य को और आगे बढ़ाया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के इतिहास में आलोचना पुरुष हैं; हिन्दी साहित्य का इतिहास के अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास, भ्रमरगीत सार, जायसी ग्रंथावली, चिन्तामणि, रसमीमांसा, इनके महत्त्वपूर्ण आलोचना ग्रंथ हैं। शुक्ल जी ने अपनी समीक्षा-प्रणाली में भारतीय काव्यशास्त्र के मानदंड, काव्य परम्परा, काव्यादर्श को अपनाते हुए पश्चिमी समीक्षा के रचना-विधान आदि को ग्रहण किया। शुक्ल जी यूरोपीय साहित्य और समीक्षा से पूरी तरह परिचित थे। वहाँ के कलावाद और अभिव्यंजनावाद से असहमत होते हुए आई. ए. रिचर्ड्स से वे अधिक प्रभावित थे। इन्होंने पश्चिमी समीक्षा सिद्धान्त को अपने विवेक की कसौटी पर ग्रहण किया और हिन्दी-आलोचना को ठोस धरातल और नवीन दिशा दी। “रस मीमांसा” में संग्रहित “काव्य” निबंधन में इन्होंने स्पष्ट किया है कि काव्य-रचना मनोरंजन जैसे हल्के-फुल्के उद्देश्य के लिए नहीं होती है। इसलिए इसकी समीक्षा भी अपेक्षित गम्भीरता की मांग करती है। इन्होंने केवल अपने समकालीन समीक्षकों को प्रेरित ही नहीं किया बल्कि अपने आदर्शों और मानदंडों के अनुरूप तुलसी, जायसी, सूरदास पर व्यावहारिक समीक्षाएँ भी लिखीं और साहित्येतिहास में रचनाकारों की समीक्षा भी इसी तरह की। अपनी समीक्षा में शुक्ल जी ने लोक संग्रह को महत्त्व दिया और तुलसीदास को अपना आदर्श बनाया। इसी दृष्टि से उन्होंने साहित्येतिहास की परिभाषा दी है “जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का सचित्र प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। “(हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. 3) “चित्तवृत्तियों की परम्परा की परख” शुक्ल जी की समीक्षा” का मूलाधार है। इन्होंने हिन्दी आलोचना को नई

दिशा दी। अपने पूर्व की हिन्दी समीक्षा पर इन्होंने कड़ी टिप्पणी की ओर समकालीन समीक्षकों का दिशा-निर्देश किया। शुक्ल जी ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा प्रणाली पर टिप्पणी करते हुए लिखा है “द्विवेदी जी की तीसरी पुस्तक” कालिदास की निरंकुशता” में भाषा और व्याकरण के वे व्यक्तिगत इकट्ठे किए गए हैं, जिन्हें संस्कृत के विद्वान लोग कालिदास की कविता में बताया करते हैं। यह पुस्तक हिन्दी वालों के या संस्कृत वालों के फायदे के लिए लिखी गई है, यह ठीक-ठीक नहीं समझ पड़ता। जो भी हो इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्ले वालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिए, स्वतंत्र समालोचना के रूप में नहीं”। (हिन्दी सा. इति. पृ. 505)

द्विवेदी काल में ही तुलनात्मक समीक्षा की शुरुआत हुई। देव बड़े कि बिहारी, इस मुद्दे को लेकर पद्म सिंह शर्मा, कृष्ण बिहारी मिश्र, लाला भगवानदी और मिश्र बंधुओं ने अपने ढंग की समीक्षा की। समीक्षा की इस तुलनात्मक पद्धति पर शुक्ल जी ने लिखा “अच्छा हुआ कि छोटे-बड़े इस मुद्दे-झगड़े की ओर अधिक लोग आकर्षित नहीं हुए।” (हि.सा.इति. पृ. 508)

शुक्ल जी ने अपने समकालीन अतिवादी समीक्षा के बारे में लिखा है “कवि की समीक्षा के नाम पर उसकी रचना से सर्वथा असंबद्ध चित्रमयी कल्पना और भावुकता की सजावट देख उतनी ही ग्लानि होती है। कवि के विवक्षित भावों से उनके वाग्विलास का कोई लगाव नहीं। पद्य का आशय या भाव कुछ और है, आलोचक जी उसे उद्धृत करके कुछ और ही राग अलाप रहे हैं।” (हि.सा.इति. पृ. 538)

वस्तुतः शुक्ल जी ने अपने अध्ययन और विवेक से आलोचना के अपने आदर्श, मूल्य और मानदंड को स्थापित किया था। उनका संपूर्ण साहित्य इसी अनुशासन से प्रणीत है। विचारों में कहीं टकराहट नहीं। ऐसा इसलिए था कि उन्होंने सिद्धान्त को व्यवहार की कसौटी पर कसकर ही अपनाया था।

हिन्दी आलोचना जगत को इनकी देन और इनका व्यक्तित्व आज भी महान है। नलिन विलोचन शर्मा का कहना है कि शुक्ल जी अपने समय के सबसे बड़े समीक्षक हैं, उस समय उनसे बड़ा समीक्षक किसी भी भारतीय भाषा में नहीं था।

आचार्य शुक्ल जी की समीक्षा परम्परा को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आगे बढ़ाया। द्विवेदी जी शुक्ल परम्परा में सबसे प्रखर समीक्षक थे। इनका वैचारिक धरातल मानवतावादी था। द्विवेदी जी अपने लेखन के आरम्भिक काल में शान्ति निकेतन आश्रम में थे। वहाँ रवीन्द्रनाथ नाथ टैगोर, क्षितिमोहन सेन, विधु शेखर शास्त्री, बनारसीदास चतुर्वेदी आदि मनीषियों और विचारकों के सान्निध्य में द्विवेदी जी के वैचारिक धरातल का निर्माण हुआ। शुक्ल जी की प्रवृत्तिमूलकता और लोक संग्रह के स्थान पर द्विवेदी जी ने साहित्य को एक अविच्छिन्न विकास परम्परा और मानवतावाद से जोड़ा और साहित्य समीक्षा में इसे महत्त्व दिया। शुक्ल जी ने धार्मिक कारणों से

सिद्ध और नाथ साहित्य को काव्य की मुख्य धारा से पृथक् रखा था, द्विवेदी जी ने सिद्ध नाथ साहित्य को साहित्य की अविच्छिन्न विकास परम्परा से जोड़कर उसकी व्याख्या की। द्विवेदी जी मानते थे कि मनुष्य ही श्रेष्ठ है। कोई सामाजिक मूल्य स्थायी नहीं है। युगानुकूल मनुष्य की आवश्यकतानुसार ये मूल्य परिवर्तनशील हैं। किसी रचनाकार ने अपने युग के किन श्रेयस्कर मानवीय मूल्यों की सृष्टि की है, यह महत्त्वपूर्ण है। द्विवेदी जी का सारा साहित्य इसी वैचारिक धरातल पर स्थित है। *सूर साहित्य, हिन्दी साहित्य की भूमिका, कबीर, नाथ सम्प्रदाय, हिन्दी साहित्य* आदि समीक्षा ग्रंथों में द्विवेदी जी ने साहित्य की निरन्तरता और लोक-चेतना की श्रेष्ठता को महत्त्व दिया है। द्विवेदी जी के बाद हिन्दी समीक्षा में मुख्यतः नामवर सिंह का हस्तक्षेप रहा है। इनका वैचारिक धरातल साम्यवादी रहा है। नामवर सिंह ने “छायावाद” नामक पुस्तक से हिन्दी आलोचना जगत में प्रवेश किया और “कविता के नए प्रतिमान” में इनकी समीक्षा का उत्कर्ष देखा जा सकता है। हिन्दी आलोचना के पचास के दशक में वैचारिक विखराव नजर आता है। यह हिन्दी साहित्य के विकास का वह समय था जब पद्य के साथ-साथ गद्य की कई विधाओं का विकास और श्रेष्ठ लेखन हो रहा था। पद्य में छायावाद के बाद कई वाद प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नकेनवाद, नई कविता, समकालीन कविता आदि आगे पीछे चलते रहे। गद्य साहित्य में कहानी, नाटक, उपन्यास, निबंध आदि का उत्कर्ष तो छायावाद में ही दिख रहा था। इस काल में प्रवृत्तिमूलक फैलाव अधिक हुआ। हिन्दी समीक्षा को इन रचनाओं से गुजरना था तो तदनु रूप परिवर्तन लाजिमी था। यह परिवर्तन नामवर सिंह, देवीशंकर अवस्थी एवं अन्य की समीक्षाओं में देखा जा सकता है। इसमें विचार पक्ष से अधिक संरचना पक्ष को महत्त्व दिया गया और साहित्य परम्परा की निरन्तरता आदि “जनता की चित्तवृत्ति” का कोई अवकाश नहीं। आलोचना रचना केंद्रित होने लगी। समीक्षा में अधिकांश उदाहरण पश्चिमी और साम्यवादी देशों के साहित्य और समीक्षा से आने लगे। कभी-कभी ऐसा लगता है कि बिना इन उद्धरणों के समीक्षा पूरी नहीं होगी। समीक्षा से रस, ध्वनि अलंकार, आदि भारतीय काव्यशास्त्र को खारिज कर दिया गया। मानदंड की अनिश्चितता के कारण हिन्दी आलोचना में अनिश्चितता और विखराव आ गया है। एक ही पाठ पर कई परस्पर विरोधी मन्तव्य आते रहे हैं। इसके आगे उत्तर-आधुनिकता ने समीक्षा में प्रवेश किया।

नब्बे के दशक में उत्तर-आधुनिकता का दौर आरम्भ हुआ। इन्होंने रही-सही स्वदेशी जमीन ही खिसका दी। यह आँधी यूरोप से आई। डॉ. पांडेय शशिभूषण शीतांशु का मत है कि “यह नयापन 1950 के दशाब्द में उभरा, 1960 के दशाब्द में इसने गति प्राप्त की, 1970 के दशाब्द के दौरान बहुतेरे कलात्मक ज्ञानानुशासन में सक्रिय हुआ तथा 1980 के दशाब्द के आरम्भ तक इसने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।” (उत्तर-आधुनिकता : बहुयामी संदर्भ, पृ. 16)

उत्तर-आधुनिकता का सैद्धांतिक स्रोत फ्रांसीसी उत्तर-संरचनावाद है। इसके व्याख्याकार जाक दरिदा, जॉय फ्रेकोइम ल्योतार, बौद्रिआ आदि हैं। उत्तर-आधुनिकता सारे महान मूल्यों को सिरे से नकारती है। डॉ. शितांशु ने अपने आलेख में स्पष्ट किया है कि उत्तर-आधुनिकता चिन्तन उद्ध्व धरता-विरोधी है, सम्पूर्णता की अवधारणा को तोड़ती है, वहाँ विवेक नहीं इच्छा मूल है, इतिहास की चेतना को नकारती है। (वही पृ. 26) वस्तुतः उत्तर-आधुनिकता बाजारवाद के वैचारिकता के रूप में सामने आती है। बाजारवाद (खुले व्यापार की नीति) के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा स्वदेशीपन था। उत्तर-आधुनिकता के पोषकों ने स्वदेशीपन के सारे उपादानों इतिहास चेतना, महान वृत्तांत, संपूर्णता आदि को सिरे से खारिज कर दिया और विश्वग्राम के “बैलून” को आसमान में छोड़ा। विकासशील देशों के लिए यह “बैलून” लुभावना तो है परन्तु पहुँच से बाहर। साहित्य समीक्षा में जब सारे परम्परागत मूल्य ढह गए तो समग्रता और राष्ट्रीयता को अवकाश कहाँ? समीक्षा के इस नए धरातल पर सभी कृतियाँ केवल “पाठ” हैं। इन कृतियों का हमारी सांस्कृतिक विरासत से कोई सरोकार नहीं यह वैचारिक दरिद्रता है, समीक्षा-कर्म नहीं।

समीक्षा-कर्म भी रचना-कर्म के समकक्ष माना गया है। एक रचनाकार रचना क्रम में जिस संवेदना को जीता है एक समीक्षक को उस संवेदना के करीब जाना पड़ता है यह सामान्य कर्म है। अपेक्षित संवेदना के करीब जाकर रचना के फैलाव और फलक को स्पष्ट करना समीक्षा का विशेष दायित्व है। एक रचनाकार अपने समय-समाज की संवेदना और संभावना को व्यक्त करता है। समाज की अपनी जातीय चेतना के साथ-साथ उसकी एक राष्ट्रीयता भी होती है। रचना का फैलाव राष्ट्रीय क्षितिज को भी छूता है। केवल महान रचनाएँ ही नहीं, छोटी रचनाएँ भी अपेक्षित फैलाव की माँग करती हैं “राम की शक्तिपूजा” की जो समग्रता है, “भिक्षुक” की उससे कम नहीं है। भारतेंदु की प्रसिद्ध कविता “निजभाषा” का शब्दार्थ और भावार्थ काफी नहीं है। जिस संदर्भ में यह रचना हुई है अंग्रेजों द्वारा प्रेरित हिन्दी-उर्दू के झगड़े से उत्पन्न भाषायी और राष्ट्रीय संकट को उजागर किए बिना इस कविता की व्याख्या अधूरी है। उसी प्रकार “भिक्षुक” कविता में आए “भाग्य विधाता” शब्द को राष्ट्रगान में व्यवहृत “भाग्य विधाता” शब्द से जोड़े बिना निराला की संवेदना तक नहीं पहुँचा जा सकता है। समीक्षा केवल पाठ-वाचन नहीं है, संदर्भ सहित व्याख्या भी नहीं है, बल्कि रचना का फैलाव जिस समग्रता में है, उसकी तलाश भी होनी चाहिए। रचना अपनी भाषा-साहित्य की धारा को किस तरह समृद्ध करती हुई राष्ट्रीय चिन्तन-धारा को स्पर्श करती है इस प्रभाव को भी देखा जाना चाहिए।

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

 3277883 (Off.)

Regd. Office
**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002**

With Best Compliments

from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhash Marg,
Darya Ganj, New Delhi-110002
Phone Off. 3277883, 3711848